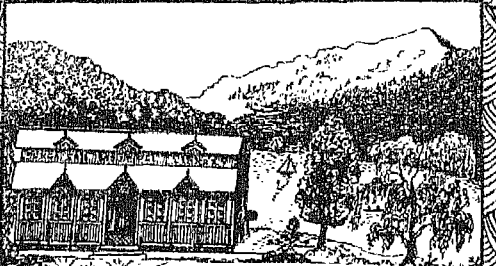

DURGA SAH MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL
दुर्गा साह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल

Class No. 891.38
Book No. Sh 26 C
Reg No. 5178

उ० प्र० सरकार द्वारा पुरस्कृत

'धर्मयुग' में प्रकाशित कहानियाँ

त्रिवेणी पुस्तक-माला—१२

चांद खो गया

सामाजिक, ऐतिहासिक, पौराणिक तथा
भावात्मक कहानियाँ

शकुन्तला शर्मा

त्रिवेणी प्रकाशन
८० सी. मधवापुर, इलाहाबाद

त्रिवेणी पुस्तक-माला
संयोजिका : संचालिका—शकुन्तला मिश्र
सम्पादक—राजकुमार शर्मा

पुस्तक संख्या—१२
कहानी-पुस्तक—३

प्रथम संस्करण
स्वतन्त्रता दिवस, १९५८

Durga Sah Municipal Library
NAINITAL.
दुर्गासाह म्युनिसिपल लाईब्रेरी
नैनीताल
Class No. 891.38.....
Book No. Sh26 e.....
Received on Sept-1961.....5178

मूल्य : दो रुपये पचास नये पैसे

प्रकाशक : शकुन्तला मिश्र, त्रिवेणी-प्रकाशन
८० सी, मधवापुर, इलाहाबाद ।

मुद्रक : अवधनारायन श्रीवास्तव, नवयुग प्रेस
१४१, मुठीगंज, इलाहाबाद ।

प्यारी बउआ ने
जे म्हारीज नहीं
ए कथाओं नी भी
जननी छे।

—छुन्नो

कहानियाँ

पाती	:	नौ
भिक्षा	:	पच्चीस
प्लावन	:	पैंतीस
देव-अदेव	:	चवालीस
कन्या-कुमारी	:	बावन
वीथी-जाल	:	इकसठ
दर्पण की कारा	:	सत्तर
चाँद खो गया	:	उन्यासी
फाँस का लाल फूल	:	अट्ठासी
गतिहीन	:	सौ
कर्म-मेखला	:	एक सौ आठ
फैसला कल होगा	:	एक सौ अट्ठारह

प्रकाशकीय

हिन्दी को हिन्दी-प्रदेश के ही कतिपय व्यक्तियों का प्रयत्न बतला कर उसे एक सीमित दायरे में बन्द कर देने वाले लोगों के विरुद्ध जो व्यक्ति चुनौती की तरह खड़े हुए हैं उनमें शकुन्तला शर्मा का शीर्ष स्थान है। यह स्थान उन्होंने हिन्दी के पक्ष में लम्बे वक्तव्य देकर या किसी सम्मेलन और संस्था विशेष (सरकारी अथवा गैर सरकारी) का सभापतित्व या मन्त्रि-पद ग्रहण करके नहीं बल्कि बहुत खामोशी के साथ कविता, कहानियाँ और उच्च कोटि के निबन्ध लिख कर प्राप्त किया है। भीतर ही भीतर बहने वाली जलधारा की तरह उन्होंने हिन्दी का विरोध करने वाले प्रयासों की नींव पर करारा प्रहार किया है। हिन्दी के समर्थन में छपने वाले वक्तव्य भले ही उन्हें छापने वाले दैनिक अखबारों की तरह रद्दी खरीदने वालों को तौल दिये गए हों, लेकिन शकुन्तला शर्मा की रचनाएँ हिन्दी ही नहीं बल्कि और दूसरे प्रदेशों के एक बड़े पाठक-वर्ग के हृदय में गहरे पैठती गईं और उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि अहिन्दी-भाषा-भाषी के लिये हिन्दी सीखना तो आसान बात है ही, अपने सृजन को हिन्दी का माध्यम देकर वह हिन्दी के मँजे हुए साहित्यकारों को भी आश्चर्य-चकित कर सकता है। हिन्दी की अपरिचित भूमि पर भी उनके पाँव जितने सधे हुए और तेजी से पड़ रहे हैं और उन्हें जिस विश्वास के साथ प्रगति की मंजिल की ओर लिए जा रहे हैं उसमें हिन्दी के दिग्गज साहित्यकार भी पीछे छूटते जा रहे हैं।

जब उन्होंने पहली बार गुजराती से हिन्दी में पदार्पण किया और हिन्दी-साहित्य को 'अञ्जलि' के नाम से उनका कविता-संग्रह प्राप्त

हुआ, तब वे बी० ए० की छात्रा थीं। प्रतिभा चाहे वह किसी भी माध्यम से व्यक्त हो अपनी प्रखरता कैसे छोड़ सकती है ? सूरज की किरण चाहे कहीं भी जाए अन्धकार को रोशनी में परिणत करेगी ही। क्षितिज पर दिखाई देने वाली आरम्भिक लालिमा से आने वाले प्रभात का आभास पा जाने में निपुण महाकवि 'निराला' ने 'अञ्जलि' की कविताओं को पहिचाना था और उनमें सुगंध के दर्शन किए थे। इसके पश्चात् प्रभात के लक्षण स्पष्ट हो चले और धीरे-धीरे हिन्दी-साहित्य का आकाश उनकी प्रतिभा की किरणों से आलोकित हो उठा। प्रकाश अपने स्वाभाविक धर्म के अनुसार फैला और शकुन्तला शर्मा की रचनाएँ केवल हिन्दी-प्रदेश तक ही सीमित नहीं रहीं बल्कि गुजराती, तमिल, कन्नड़, मलयालम आदि अनेक भाषाओं में अनूदित हो चलीं। उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में भी कार्य किया और 'हिन्दी-काव्य में सौन्दर्य-भावना' नामक ग्रन्थ हमारे सामने आया। बहुत कम पढ़ने वाले शासन के अधिकारियों ने भी उसे पढ़ा और पुरस्कृत करने की उदारता भी प्रदर्शित की।

अब हम उनकी तीसरी पुस्तक प्रस्तुत कर रहे हैं। कहानियों के इस संग्रह में उनकी वे कहानियाँ हैं जिनकी प्रशंसा स्वयं आपने की थी, जब विविध पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से वे आप तक पहुँची थीं। जीवन के विविध-क्षेत्रों से ली गई इन कहानियों की विषय-वस्तु एक बहुत गहरे और तीव्रतम मर्म पर आधारित है। उनमें जीवनानुभवों की विविधता और व्यापकता है और प्रायः सभी एक उज्जवल मानवीय-संवेदना से ओत-प्रोत हैं। उनमें जो कुछ है उसे हरिद्वार से लेकर कन्या-कुमारी तक और पञ्जाब से लेकर बंगाल तक विविध स्थानों और विविध समयों में रहने वाली उनकी लेखिका ने बहुत निकट से देखा है। उन्होंने बुद्धि के घोड़े नहीं दौड़ाए हैं बल्कि प्रेमचन्द की तरह उनका हृदय उनकी

कहानियों को सामग्री देने वाले जीवन के वास्तविक चरित्रों के साथ हर सुख-दुख में साथ चलता रहा है। प्रेमचन्द पुरुष थे और उनमें स्त्री के हृदय की भावुकता शायद कम ही रही होगी। सम्भवतः इसीलिए वे स्त्री-पात्रों के चित्रण में बहुत अधिक सफल हो भी नहीं पाए। 'चाँद खो गया' में एक स्त्री के हृदय की धड़कनें सुनी जा सकतीं हैं और इसीलिए सभी कहानियाँ एक बहुत आर्द्र आत्मीयता में डूबी हुई हैं।

संग्रह की कहानियों का विवेचन हमारा इष्ट नहीं, लेकिन इतना अवश्य है कि इन कहानियों ने लेखिका को हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकारों की पंक्ति में ला खड़ा किया है। वे किसी साहित्यिक दल से सम्बंधित नहीं हुईं; उन्होंने किसी प्रचारित सिद्धान्त के प्रति आत्मसमर्पण नहीं किया; किसी साहित्यिक मठाधीश को उन्होंने अपने प्रणाम अर्पित नहीं किए; उनकी प्रशंसाओं के जुलूस नहीं निकले; लेकिन उनकी कविताएँ और कहानियाँ नन्हें बच्चे की तरह चुपचाप दरवाजा खोल कर सहृदय पाठकों के पास आ बैठती रहीं। ईमानदार आलोचकों ने उनकी ओर ध्यान दिया और हिन्दी-साहित्य उनकी ओर आशा भरी दृष्टि से देखने लगा। यह संग्रह हमारे प्रत्येक कथन पर प्रामाणिकता की मुहर अंकित करेगा। कहानी-लेखन के क्षेत्र में आज भी जिस अनवरत साधना से वे लगी हुई हैं उसे देख कर हिन्दी कहानी के भविष्य के प्रति हमारा विश्वास और गर्व जितना बढ़ा है उतना शायद कभी नहीं बढ़ा था।

पाती

सन्ध्या लाजभरी नववधू सी एक बार अरुण होकर क्षितिज के वक्ष में मुख छिपा चुकी थी और वैसे ही मुख छिपाये-छिपाये तरु-शिखरों पर इधर-उधर जल्दी में अटक गये दुकूलों को धीरे-धीरे समेट रही थी। चारों ओर दूर-दूर तक छोटे-छोटे घरौंदे से लगने वाले मकानों की ओर बढ़ती हुई घास काटने वालियों की पंक्ति, चीटियों की कतार-सी घनी और पतली दिखाई पड़ रही थी और मैंने पहले-पहल देखा था पर्वत का यह मनोहर दृश्य। उस विराट वैभव में स्वयं को कहीं न स्थापित कर पाती हुई-सी मैं एक छोटे किन्तु ऊँचे चबूतरे पर बैठी दूर अनेकों पर्वतमालाओं के पार घूम-घूम कर, किसी विक्षिप्त-सी भटक-भटक कर चलती हुई गाड़ी की सड़क की ओर देख रही थी। बीच में, उपत्यका-से प्रदेश में स्थापित कलरव भरे नीड़-सा एक गाँव। एक ओर घर-घर करती गाड़ी की सड़क के पाँव पलोटता-सा दूसरी ओर वैभव की अट्टालिकाओं के चरण तले रौंदा जाता-सा; पर उसे दोनों ही सीमाएँ दूर से बाँध भर रही थीं, घोट नहीं रही थीं। वही धूम्र फैला कर दोनों ओर के यात्रियों तथा निवासियों पर विकृति की हँसी-सी हँसा करता था।

हाँ तो लहराती हुई सड़क और फिर उसके पीछे गोलाकार-सा एक हरा-भरा प्रदेश जो दोनों ओर की उजड़ी पर्वतमालाओं के मध्य किसी बर्मी की गोल-मोल टोपी की याद दिलाया करता। मेरी किशोर कल्पना पहले ही दिन उस जगह दौड़ गई और फिर मन ही मन और बढ़ कर सफेद-सफेद चोटियों की ओर दौड़ने लगी जिन्हें सब गौरीशङ्कर कहते थे।

उस गाँव तक पहुँचने का एक बड़ा ही कंकरीला-पथरीला, किन्तु चौड़ा-सा मार्ग था। दोनों ओर ईंट की मेड़ बनी थी, जो यत्र-तत्र वृद्ध के दाँतों-सी बेतरतीब उखड़ी-पुखड़ी थी। अभी-अभी उस जगह से घुमाव-दार लहँगों की पंक्ति खिलखिलाती-बलखाती निकल कर गई थी; कलरव अभी तक प्रतिध्वनित हो रहा था।

तभी एक नीली-पीली साड़ी पर सफेद गोटे की कोर में लिपटी किशोरी दबा-दबा कर पाँव रखती हुई मेरे सामने से निकल गई। अंगुलियों में आँचल को घुमा-घुमा लपेटती-सी, कभी सिर को अधिक ढंकने का यत्न करती, कभी आँचल को होठों के नीचे दबाती, धीरे-धीरे जैसे खिसकती जा रही थी। सौ गज के फासले को पूरा करने में उसने कदाचित् पाँच-सात मिनट लगा दिये। वह जान रही थी कि समीप की ऊँचाई से ही उसे कोई बड़े ध्यान से देख रहा है। वह धीरे-धीरे मोड़ पर पहुँच गई और मेरी दृष्टि पुनः उसी टोपी वाले प्रदेश पर। एक पल भर ही सोच सकी थी कि यहाँ कहाँ से यह आधी नागरी आधी गाँव की किशोरी निकली।

'नमस्ते बहिन जी!'

वंशी-से काँपते स्वर ने मुझे झटके से जगा दिया। घूम कर देखा—वही पुतली अपने रूखे-रूखे बालों को तार-तार हुये गोटे में भरती हुई सकुचाती-सी हाथ जोड़े खड़ी थी। नीली साड़ी के कच्चे रङ्ग ने लाल होठों पर नीलिमा के चित्र बना दिये थे, ठीक सन्ध्या की अरुणाई पर रजनी

की स्याही-से। बड़ी-बड़ी आँखों में लाज लहरा रही थी। सावले रङ्ग ने मुझे यह तक न समझने दिया कि यह पर्वती ही है।

अभी मुखर होते हुये भी कुछ सकुचा-सी गई वह भी, जैसे मेरी आँखों में डूब कर फिर उतरा आई थी। मैंने उठ कर उसे अपने पास बैठाते हुआ पूछा—'आप अभी इधर से गई थीं न ?'

'मैं आप से ही मिलने आ रही हूँ, बल।'

मैं फिर उसे अन्दर ले गई। ड्राइङ्ग रूम में बैठने पर वह गड़ी-सी जा रही थी। सोफे पर पहले तो ऐसी अधूरी बैठी कि यदि मैं जोर से बैठती तो वह उछल कर नीचे आ पड़ती। फिर आग्रह करने पर ऐसी धस गई कि जैसे बैठे-बैठे ही धरती की ओर बढ़ रही है। धीरे-धीरे मुझे मालूम हो गया—वह नवीं कक्षा में पढ़ती है, गाँव की ही बालिका है। उसने पहले से ही मेरे बारे में सुन रक्खा था और वह मुझसे मिल कर उतनी ही प्रसन्न है जितनी कल्पना करके हो उठी थी। उसका संकोच सन्ध्या के झुटपुटे के साथ ही मिट गया। नये-नये नक्षत्र छिटकने लगे। उसके छोटे-छोटे छिदरे दाँत मेरे पास हास के मोती बिखेरने लगे। अस्तव्यस्त खोंसे हुये बालों पर से आवरण स्वयं हट गया और वह आकाश सी ही निरभ्र हो फिर आने का वायदा करती हुई खड़ी हुई।

'मुझे पढ़ा दोगी बहिन जी ? तुम तो मैट्रिक पास कर चुकी न ? मुझे भी करा दो, फिर मैं भी तुम्हारे साथ कालेज जाऊँगी।'

× × ×

समय पङ्ख लगा कर उड़ रहा था और हम दोनों किशोर कल्पनाओं में व्याकुलता के पङ्खों पर उड़-उड़ कर दूर-दूर नीड़ों की सैर किया करते। उसका नाम था पार्वती, पर मैं उसे 'पाती' कहती और वह भी मेरे नाम को अपने ढङ्ग से तोड़-मरोड़ कर 'सक्कू' कहती। पाती 'स' को 'श' और 'श' को 'स' सहज रूप से ही कहती और वह जानती थी कि यह

गलत है, पर अपने आप को बदल न सकी। वह ग्वाले की पुत्री पिता की लाडली होने पर भी सौतेली माँ से सदा ताड़ना पाती। वह न गाय चराने जाती, न घास लाती, न दूध दुहती, न रोटी पकाती। या तो पढ़ा करती या सक्कू के पास बैठी अंगूर की बेल से खट्टे अंगूर तोड़ कर खाती। मुझे भी खट्टे अंगूर पसन्द थे कच्चे-कच्चे और वह दूर से मुख में निचोड़ कर परख कर फिर मुझे दे देती। साथ में कहती जाती —'शबरी मीठे बेर छांटती है, पाती खट्टे अंगूर।' मैं दुखी होकर कहती—'पाती! यदि तू शबरी कहेगी अपने को, तो मैं कूद जाऊँगी और अंगूर की बेल बन जाऊँगी। और तब तू मुझे खायेगी।' वह झट मेरे मुख पर हाथ रख कर आँसू भरे-से अविचल नेत्रों से मुझे देखती रह जाती। मैं भी हँस कर उसकी पलकें गिरा देती। पलकों के नीचे आँसू छलके-छलके कि मैं कह देती—'अच्छा, दोनों अंगूर की बेल बन जायें तो कैसा?' बस, इतना कहते ही वह हँस देती। उसके भूसे से बाल कितनी बार मैं ठीक करती, पर वह फिर बिखेर लेती यह कह कर कि यदि सक्कू! तू चिड़िया बन जाये तो मेरे बालों का घोंसला बना लेना।

पाती मेरे अधिक-अधिक समीप रहती। मेरी भावुक भोली कल्पनाओं का नियन्त्रण करती और कभी-कभी तो बड़ी बहन बन कर रोष भी प्रगट करती। मुझमें एक नवीन परिवर्तन आ रहा था, ठीक वैसा ही जैसे स्कूल के विद्यार्थी को कालेज में प्रवेश करने पर; किन्तु उस परिवर्तन में भी कभी-कभी क्रीड़ा-कौतुक जागता और तब हम दोनों जी भर कर खेलते। शर्मीली पाती पैजामा और लाल कोट पहने लड़का बनी घूमती और वैसे ही उसकी सक्कू भी। दोनों दुर्गा राग के स्वरों में पहाड़ी धुन गुनगुना कर साक्षात दुर्गा का-सा बल समेटे चुपचाप आस-पास के पहाड़ी टीलों पर चढ़-चढ़ कर घूमा करते। अंधेरे में पेड़ के कोटर में घुस कर देखते—साँप काटता है कि नहीं। बिच्छू घास को अनोखे ढङ्ग से छूने के प्रयत्न में दिन-दिन भर हाथ खुजलाते रहते।

पाती कई बार भूखी आती और मेरी ओर बिना देखे ही मेरे पलङ्ग पर ओढ़ कर लेट रहती। 'पाती ! भूख लगी है ?''अल्ले नई !' (अभी नहीं) आधी पहाड़ी और आधी देसी के अद्भुत मिश्रण में वह सदा तीर्थराज-सी पुण्यमयी लगती मुझे। उसका मना करना उसकी भूख का प्रतीक होता। पाती की आँखें केवल बरसाती ताल-सी लहराती भर थीं, पर कभी छलकती-बरसती नहीं थी, किन्तु मैं सदा सावन-भादों बनी रहती। संसार समझता यह ग्राम किशोरी मुझे रोना सिखा रही है। मुझे रोने का रोग हो गया था जैसे।

मेरा अन्तर एक काल्पनिक दुख की सीमा से अनजाने ही सिर धुनता। कदाचित् भावुकता छन्द-बद्ध होकर निकलना चाहती थी, किन्तु बाहर पैर रखने में उस नववधू-सी हिचक रही थी, जिसे द्वार के बाहिर आने की सख्त मुमानियत हो। अन्तर पिंजड़े से दूर उड़ना चाहता था पर स्थूलता कस कर जकड़े हुये थी। इसलिये कदाचित प्रतिक्रिया केवल आँसुओं में ही होती थी।

पर्वती ग्रामीण युवतियों से मेरा खूब घना परिचय हो गया था। पहाड़ी गाने वे मेरे सम्मुख गातीं। उन्हें मैं फिर गाती, तब वे ऐसी खिचीं चली आतीं, जैसे कृष्ण की मुरली पर गोप-बधुएँ। पाती और मैं जरा ऊँचाई पर बैठ जाते और अन्य युवतियाँ नीचे बैठ कर कभी होली गातीं, कभी लोकगीत। दीवार की ऊँचाई से ईंटों की दरारों में पैर फँसा-फँसा कर हम भी उतर जाते और फिर उनकी हसिया और उसके स्वर में स्वर मिला कर लहराता गढ़वाली गीत—'छान बिलौरी में झन दियो बौजू लागला बिलौरी को घाम।' सब चले जाते तब भी वह चांदनी में बैठी मुझ से आग्रह करती—'फिर से गाओ न।'

हमारे कालेज और स्कूल का समय विभिन्न था। कभी-कभी उसे जल्दी लौटना होता तो मार्ग में मिल जाती। मैं आ रही होती, वह थकी-हारी अपनी लम्बाई को झुक कर छुपाती कुछ दौड़ती-सी चली जाती।

न जाने उसे कितनी लगन थी। कितनी कार्य तत्परता थी। रास्ते में सबसे बोलती चली जाती। जितने दूधवाले मिलते सबसे बात करती और गाँव के उतार तक आते-आते जैसे पीली पड़ने लगती। मैं रास्ते में मिल जाती तो पुस्तकें मेरी ओर से हटाकर दूसरी ओर कर लेती और बड़ी आर्त-सी होकर मेरी ओर देखती। मैं समझ न पाती कि वही बालिका जो खेलने आते समय इतनी प्रसन्नचित्त और ओजस्विनी सी रहती है यह मार्ग में हतप्रभ क्यों हो जाती है।

मेरा जब जी ऊबता तो मैं ऊँचे अंगूरों की बेल वाले चबूतरे पर खड़ी होकर पुकारती—'पाती!...आ बल सधू धाई लगोण्.....''अल्ले ओणी!' की प्रतिध्वनि से सारा प्रान्तर प्रकम्पित हो जाता और वह पाँच मिनट के अन्दर गाय-भैंस की-सी चिरायँध भरी कटु तथापि प्रिय गन्ध बिखराती-सी मेरी आँखें बन्द कर लेती।

कभी-कभी मुझे स्वजनों के अभाव में भी रहना होता; तब वह न जाने कहाँ से कलरव का स्रोत जा लाती और मेरे अमुखर प्रकोष्ठ में लहरा देती। भोली-भोली कविताएँ उसे इतनी अच्छी लगतीं कि उनमें गीत बनकर उतर आने के लिए वह मरकर नक्षत्र बन जाना चाहती थी। पूर्णिमा का इन्दु उसे विशेष प्रिय था और हर पूर्णमासी को बिना भूले न जाने कहाँ से टपक पड़ती और आकाश में कभी मुस्कराते, कभी छिपी बदलियों के अवगुण्ठन से लजाते, कभी दामिनी की काँध से लापता हुए सुधाकर की ओर संकेत करके कहती—'मुझे वह भी तुम्हारे जैसा प्यारा लगता है।' मुझे उसके इस वाक्य पर सदा इतनी हंसी आती कि शनैः शनैः उसे मैं पागल समझकर उसकी इस बात की उपेक्षा भी करने लगी। एक दिन क्रोध में आकर मैंने कह भी दिया कि आकाश में तो एक चन्द्र है, पृथ्वी पर दो जगमगा रहे हैं, मैं और तू! पता नहीं यह उसे व्यंग लगा क्या और वह उठकर चली गई। कई दिन तक दिखी नहीं। मैंने लाखों आवाज दे डालीं पर 'अल्ले ओणी' कभी सुनाई न दिया।

मैंने अपने आपको कितना धिक्कारा, किन्तु पाती नहीं बोली। मैं सदा उसकी प्रतीक्षा करती। ईंटों के मुडेर पर बैठी राशि-राशि चांदनी में डूबी हुई वनस्थली को देखती। मुझे सारा प्रान्तर पाती की धूमिल आँखों-सा कुहासे से भरा लगता। चाँदनी जैसे उसे फोड़कर निकल नहीं पा रही थी, ठीक वैसे ही, जैसे पाती के आँसू आँखों में ही उमड़ कर वहीं खो जाते थे।

उसे आलू का भुरता बहुत पसन्द था, वह भी मैंने छोड़ दिया। मैं जाऊँ कैसे उसके पास, नीचे गाँव में महामारी का प्रकोप था और वहीं कहीं पाती भी भूसे के ऊपर धुएँ के ढेर के नीचे उमसी हुई कोठरी में घुट रही होगी। मुझे उस समय लगा जैसे पाती मुझे चाँद सुन्दरता के कारण नहीं, वरन नीचे न आ सकने के कारण कहती होगी।

उस दिन मुझे अपनी भूल पर पश्चाताप हुआ और मैं रात में चुप-चाप सियारों की हू-हू की उपेक्षा करती हुई अकेली उस ओर बढ़ चली। कुत्ते भी नए व्यक्ति पर आश्चर्यचकित होकर गुर्रा-गुर्रा कर रह जा रहे थे। उन्हें अपनी पाती से प्यार था, इसलिए पाती के लिए जाने वाले को फाड़ नहीं डाल रहे थे। मुझे मार्ग तो ज्ञात न था। दूर से सरल-सीधा दिखाई पड़ने वाला ग्राम जैसे लखनऊ की भूल-भुलैया बन गया था। हर बार चक्कर काटकर वहीं आ जाती। भय से कलेजा कांप-कांप जाता। आखिर यह हो क्या रहा है। कहीं पास के झुरमुट से जंगली खरगोश सरसराता हुआ निकल जाता। कभी गाय-भैंसों की रोमंथन ध्वनि सुन पड़ती, कभी एक-आध कराह दीपों के चारों ओर विषैली धूम्र की लकीरें-सी बना जा रही थी और कभी-कभी झलक जाती गैस के शीशों से छनकर आती हुई रोशनी, जैसे जल में डुबकी लगाकर दिखाई पड़नेवाली चांद की आभा। मुझे पाती का घर न मिला और मैं लौट आई।

दूसरे दिन से मैं भी ज्वर-पीड़ित थी। कालेज से आते ही मेरा सिर

घूमा और मेरी संज्ञा-लुप्त होने लगी। घर तक चलकर पहुँचना कठिन हो गया और मैं ढाल से लुढ़क पड़ी। जाने कैसे बच गई। ज्वर भूत की तरह सवार था।

मेरी अस्वस्थता में भी रोगिणी पाती आ पहुँची। उसके पाण्डुर मुख पर धंसी हुई आँखों में जैसे जीवन ही नहीं शेष रहा था। पलकें झिपतीं तो लगता कोई सूत्रधार इन्हें बरबस ढँकता और खोलता रहता है। पीली पाती डिब्बे में बोए हुए धान के पौधे-सी बुझी-बुझी हो गई थी। लगता था बरसों से भोजन देखा ही न हो।

मैं भी अच्छी हो चली, पर मेरा ज्वर अपना आसन अन्दर जमा रहा था। हम दोनों ही रोगी उदासीन-से थे। मुझ में जीवन के प्रति अमोघ विरक्ति भर उठी थी। मुझे अपनी मृत्यु की चर्चा करने में सुख मिलता था, कदाचित् इसलिए कि मेरी मृत्यु पाती की सबसे बड़ी हार थी। मैंने एक दिन हँसकर कह दिया—'पाती! अब मैं चाँद बन जाऊँगी!' तब उसने न तो मेरा मुँह बन्द किया, न रोष ही प्रगट किया, केवल गम्भीरतापूर्वक बोली—'बड़े आदमियों को नौकर की जरूरत होने वाली ठहरी है। मैं जा कर साफ-सूफ कर रक्खूंगी, झाड़-बुहारू कर रक्खूंगी, तब आने वाली ठहरी बल।'

× × ×

मैं रुग्णा ही परीक्षा की तैयारी कर रही थी कि सदा की भाँति पाती मार्ग में मिली। वह भी परीक्षा में व्यस्त थी। मैंने उसे दूर से देखा, वह आगे-आगे बढ़ी जा रही थी। इतनी तेज थी उसकी चाल कि बीच में तीन बार पुलिया पर बैठ-बैठ कर भी वह आगे ही बढ़ी चली जा रही थी। किसी प्रकार पहुँची तो देखा चेहरा स्याह पड़ गया था, होठों पर पपड़ी पड़ी हुई थी और आँखों में विवशता की बूँदें छलक रहीं थीं। गले के नीचे हड्डियाँ ऐसी उभर आई थीं, जैसे उनमें ठोक-ठोक कर दरारें डाल दीं गई हों। साँस बेतरह फूल रही थी।

मैंने पूछा—'पाती ! पर्चा कैसा हुआ ?' वह घबराकर बोली—'आज तो हो गया, कल और हो जाय, फिर बस। कल आखिरी है।'

परीक्षा समाप्त हो गई। पाती अच्छी हो गई। फिर एक बार क्रीड़ा-प्रिय किशोर-किशोरियों की बाछें खिल गईं, परन्तु पाती से सब घृणा करने लगे थे। जाने क्यों वह निरीह बालिका लांच्छित हो रही थी। मेरा उससे मिलना-जुलना बन्द हो गया। वह कभी सांझ के झुटपुटे में दौड़ आती। हलकी-हलकी सर्दी पड़ती होती, आकर रजाई में दुबक जाती। मैं भी डर से कुछ न बोलती। मुझे साथ सोना सदा अरुचिकर रहा, पर मैं इस भय से न बोलती कि वह दुखी होकर कह देगी—'मैं गाय-भैंस जैसी महकती हूँ न ?' कोई कहता—'वह बुरी लड़की है।' कोई कहता—'यह क्या बेमेल दोस्ती !' पर दोस्ती जो थी और यह भी ऐसी ममत्वभरी कि मृत्यु में भी साथ नहीं छोड़ना। पाती कहा करती थी—'सक्कू ! तू मुझे निकाल दे तो मैं मर जाऊँ ?' वह दाँत निकाल कर फीकी हँसी हँसती और मैं डाँट कर कहती—'जा निकल जा न !'

पर यह कहना तो जैसे ब्रह्म-वाक्य हो गया। उसका उस ओर से आना-जाना तक बन्द हो गया। एक दूसरे लम्बे मार्ग से पढ़ने जाती। मैं दूर से उसे सिर झुकाये लम्बे-लम्बे डग बढ़ाये आते देखती, तो पुकारती, पर वह तो कठपुतली की तरह फिसलती चली जाती। उसे इतना मोह था मुझसे न। जाने क्यों इतनी निर्मोही हो गई पर्वती पार्वती। मैंने तो उससे अनेक बार कहा कि इस घर को, जिसका नाम कैलाश है, तू ही सार्थक कर सकती है। मुझे तो तपोवन में रहना चाहिये। तब वह प्रत्युत्पन्नमती उत्तर देती—'मेरे जैसे जहर को भी गले में रखनेवाले तुम तो शिव हो न, लेकिन कहीं पार्वती को भूल करने के कारण त्याग न देना !' पाती रामायण खूब पढ़ती थी। पाती भूल भी कर सकती है, यह तो मैं कभी नहीं जान पाई। पाती की चर्चा बढ़ने लगी। वह जाने क्यों अपने आप में ही सकुचाई-सी मुझसे दूर-दूर रहती। उसका पिता कहता कि

वह किसी का कहना नहीं सुनती। अनुचर कभी आकर सूचना देते—'वह सन्ध्या समय पहाड़ी पर अकेले घूम रही थी।' कभी मैं कुछ लिखने-पढ़ने में व्यस्त होती तो वह किसी समय भी शीशे में से झाँक कर दौड़ जाती। मैं जब तक द्वार खोलूँ वह हवा हो जाती।

पाती आस्तिक थी, पर उसकी आस्तिकता भी इतना बौद्धिक थी कि मुझे उस पर सदा आश्चर्य होता। जीवन के प्रति उसका बड़ा तटस्थ भाव था। हंसने में उसके कभी-कभी-बड़ी कटुता होती। जब अन्दर को दबे हुए दाँत अपने पपड़ी पड़े होठों से छिपाती हुई वह फीकी-सी हँसी हँसती, तब तो मुझे उस पर करुणा हो आती, किन्तु जब कभी वह खिल-खिला कर जोर से हँसती तो मुझे उस पर बड़ी खीझ आती। जाने क्यों मुझे उसका अट्टहास बड़ा भद्दा लगता। हरी-हरी दूब पर सर्दी की साँझ में बैठकर जब हम दोनों शीत से ठिठुरते-से रहते, तब वह ऊँची, किन्तु स्पष्ट सड़क से वायु-सेवन के लिए आते-जाते आदमियों को बड़ी तत्परता से देखती। हवा तीर की तरह नुकीली थी। पत्ते लड़खड़ाकर चलते-चलते गड्ढों में गिरे जा रहे थे। 'धारे' से जल लानेवाले बंहगी वाले कनस्टरों को पी टप् खट् झन् झन् फैलाते हुए आ-जा रहे थे। ढाल से उतरते पैर की अंगुलियाँ और उनके भारी-भारी फटे-फटे पैरों की बिवाईयाँ जैसे रक्त उगलने को तैयार हो जातीं। इस शीत में भी उन्हें कुछ नहीं लगता। इसीलिए हम दोनों भी बाहर ही बैठे यह सब देखा करते। उनके कन्धों पर बाँस रखते स्थायी गढ्ढे पड़ गए थे, जिनमें वह इस सुविधा से बाँस फिट कर लेते, जैसे उनके कन्धे का प्रयोग केवल यही हो, पर पाती का ध्यान इस ओर न होता। वह प्रत्येक जानेवाले की पहचान कर नाम बताती। उसमें अधिकांश उसके परिचित होते। मैंने उससे अनेक बार पूछा कि तू क्या खोज रही है? वह उदासी से उत्तर-देती—'टी० बी० के मरीज कैसे चलते हैं, वह देखती हूँ।'

क्षय के रोगी इस जाड़े में यहां कहां। लेकिन उसे जाड़े में ही यह देखना पसन्द था। पाती मुझसे झूठ बोल रही थी, यह मुझे मालूम हो रहा था। उसने मुझसे कई बार पूछा—'तुम दुबली क्यों हो रही हो? बुखार अब भी आता है क्या?' उसके ऐसे प्रश्नों का उत्तर केवल मेरे पास यही होता—'हां, मरने की तैयारी कर रही हूँ।'

वह झट कहती—'अरे, अभी रास्ता साफ करने झाड़ू लेकर मैं तो गई ही नहीं।'

ऐसा लगता था जैसे पाती किसी बड़े भारी अनुष्ठान में व्यस्त है। मुझे जैसे वह अपने अनुभवों के आगे बच्चा समझती। कभी-कभी तो मुझे 'तुम कुछ नहीं जानती बल। तुम्हें तो बस कविता आनेवाली ठहरी।' कहकर मेरा उपहास भी करती। मैं अपनी उदार वृत्ति से जब कहीं किसी का उल्लेख कर देती, तब अपने बाल-अनुभवों में वार्धक्य की गरिमा लपेटे गर्दन ऊंची करके कहती—'यह शब खराब हैं।' वह 'शब' को खराब ही जानती थी, अच्छाई में उसका भरोसा ही न था या मुझ पर भरोसा था तो वह भी ऐसा कि दूर जाने के नाम से उसका चेहरा पीला पड़ जाता।

मैं उसे 'खत्याडी की मेम' भी कहा करती थी। एक दिन हँसी में पूछा भी कि तेरा साहब कब आएगा?

वह गम्भीर हो गई, जैसे मैंने कोई अप्रत्याशित बात कह दी हो। 'बीजू बात कर रहे हैं, पर मैं तो पढ़ने देश चलूंगी न तुम्हारे साथ?' पाती को मेरा साथ छोड़ना कभी इष्ट न था। न जाने उस भोली बालिका में कहां से इतना ममत्व जाग उठा था। वह सब कुछ छोड़ कर दो वर्ष के अदीर्घ परिचयवाली सक्कू को छोड़ने की कल्पनी भी नहीं करना चाहती थी। मेरा यह स्थान त्यागना निश्चित हो चुका था और उसका आना अत्यधिक कम। जाने कहां से एक दिन सुनकर आई कि मैं डेढ़-

दो महीने में जा रही हूँ। बिना देखे चली गई और एक महीने तक न आई।

× × ×

ग्रीष्म ऋतु का मधुर प्रात था। गुलाब की क्यारियां बेतरह गदराई हुई थीं। कैलाश गुलाब के लिए प्रसिद्ध था। छोटे-बड़े लाल पीले सब तरह के सुमन सुहास बिखेर रहे थे।

'बड़ी सुहानी भोर' गीत कोई पड़ोस में गा रहा था। मैं अनायास ही कुछ प्रसन्न थी। गौरीशंकर की चोटियाँ पीले सोने-सी चमक रही थीं। लगता था कोरों पर सोना मढ़ दिया हो। शेष भाग श्वेत स्फटिक-सा जगमगा रहा था। बीच-बीच में कहीं हरीतमा गहन नीलिमा के धब्बे दूर से ऐसे दिखाई देते, जैसे संगमरमर की सीढ़ियों पर काई जम गई हो।

आसपास बादलों की ऊँची-नीची पंक्तियाँ नील नभ पर से मचल-मचल कर उठी हुई उज्वल लहरों-सी प्रतीत हो रही थीं। गौरीशंकर शृंग के पीछे से फूटती हुई अरुण की अरुणाई ऐसी विकीर्ण हो रही थी, जैसे किसी देव-पुरुष के पीछे प्रकाश का जगमगमंडल लय हो उठा हो। नीचे पाती का ग्राम कुल-कुल कर रहा था। कोसी की पतली-इठलाती धारा ऽ का आकार बनाती ग्राम को अपनी क्षीण भुजाओं में बांधे पय-पान करा रही थी।

मैंने निश्चय किया था पाती के घर जाकर उसे चकित कर दूं। सब लोग कहते थे वह ननिहाल गई है, पर मेरा विश्वास था वह बिना कहे न जायगी। मेरे विचारों के साथ ही पाती उसी पीछेवाले रास्ते की ओर डगमगाती हुई बढ़ती दिखाई पड़ी। मुझे मालूम था कि उस पर पुकारने का असर न पड़ेगा। उसे चुपचाप बढ़ते जाने दिया। मुझे पाती पर क्रोध आ रहा था। मैंने भी पीछे मौन धारण करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था। वह आखिर इतनी क्रोधी क्यों है?

× × ×

समय बीतता जा रहा था। उस दिन पाती को जाते देख मेरी प्रसन्नता ऐसी क्षुब्ध हुई कि न तो पाती को देखने की इच्छा हुई, न उस 'सुहानी भोर' की ओर ध्यान करने की। मुझे भी वही उदासीवाला रोग और ज्वर प्रारम्भ हुआ। उसे सब क्षय के लक्षण कहते थे। मैं चिकित्सक के यहाँ तक पहुँचा दी गई। डाक्टर व्यस्त था, ए. पी. कर रहा था। मैं चुपचाप दूसरे कमरे में बैठी सोच रही थी कि मैं और पाती सदा साथ बीमार पड़ते हैं। पहली बार ग्राम में महामारी थी, पाती भूसे के ढेर में लेटे-लेटे विवशतापूर्वक अच्छी हुई। मेरे लिए कई स्वर्ग की सुविधाएँ उतर आई थीं। आज भी मैं आ पहुँची हूँ, पर पाती न जाने कैसे जी रही होगी। मुझमें और उसमें कैसा वैषम्यभरा मेल था। वह मेरी किसी सहायता को निर्धनता का उपहास न समझ ले, इसलिए मैं उससे और डरा करती थी। उसके नन्हे से उर-कूल को अपनी किसी भी वैभवमयी विचारधारा से छू कर गिरा देना मुझे कभी इष्ट न था, तब भी वह मुझ से नाराज हो जाती है। मेरा हृदय स्पन्दन बन्द हो गया था। तभी खट् से द्वार खुला। दरवाजे के सहारे सिर टेके सुरझाई हुई छुई-मुई-सी रेखा-मात्र पाती खड़ी थी। मुझे मालूम नहीं क्या हो गया था। मैं अपनी स्थिति भूल कर उसके समीप विद्युत् वेग से पहुँच गई। केवल आंसू अभिव्यक्ति को लिए मचल रहे थे। शेष सब पाती की तरह शून्य था। उस शव से निर्जीव आकार में जाने कहां से बल आ गया और वह झटका देकर ऐसी दूर हट गई, जैसे उससे बिजली का तार छू गया हो। वह पुटपुटाती हुई एक ग्वाले का सहारा लिए बढ़ने लगी—'तुम तो देश जानेवाली हो रही हो! जाओ न बल, मैं भी जाने-वाली ठहरी परसों।' पहाड़ी एक दो-दिन पहले का दिन नहीं, वरन् दस-पन्द्रह दिन महीने पहले और बाद को भी परसों ही कहते हैं।

डाक्टर ने बताया उसी को ए. पी. दे रहे थे। उसे क्षय हो गया है

5778

और मेरा उसे इस प्रकार छूना कभी ठीक नहीं, क्योंकि मैं भी दुर्बल और ज्वरग्रस्त हूँ।

पाती मेरे नेत्रों से ओझल हो गई, पर मन में बसती चली गई। मेरे आँसुओं ने अन्तर की मलिनता को जी भरकर धोया; किन्तु मैं स्वयं को क्षमा न कर सकी। तो क्या पाती इसीलिए मेरे जाने के नाम से बीमार है? और मैं उसे छू नहीं सकती; देख नहीं सकती? उसे क्षय है। मुझे अपने ऊपर ही घृणा हो उठी। औषधियाँ नाली में फेंक दीं और निश्चय कर लिया कि कभी कोई औषधि न खाऊंगी। मुझे जीने का अधिकार क्या? जीवन तो पाती को चाहिये। मेरी शारीरिक दुर्बलता भी मुझमें अक्षय मानसिक बल दे रही थी। मुझे ऐसा लग रहा था जैसे पाती मुझसे पूर्व प्रबन्ध करने के लिए जाने की चिन्ता में ही इतनी शीघ्रता कर रही है। मुझमें पाती की रक्षा का बल जैसे आ रहा था। मैं सोच रही थी—'पाती का जीवन केवल मेरी अपेक्षा कर रहा है।' मैंने उसे सूचना भिजवादी कि मैं नहीं जा रही हूँ। स्वस्थ होकर आए, फिर साथ ही पढ़ने चलेंगे।

दस-पन्द्रह दिवस बाद ही उसके पिता ने सूचना दी—'पाती बच जायगी। वह बिलकुल ठीक हो रही है। कल आपसे मिलने आएगी।' मेरे झूठ ने पाती में प्राण डाल दिये। वह फिर नवजीवन की स्फूर्ति लिए थिरक उठी। अपने गाँव की पगडण्डी-सी, टेढ़ी-मेढ़ी मांग से रूखे बालों को दोनों ओर बिखेरे हुए दीपक की लौ-सी जगमगाती हुई आ पहुँची। मैं उसके समीप उसकी टूटी-टूटी सांसों को गिन रही थी, जो जीने की भीख मांग रही थीं। पाती बेहद खुश थी, विशेषकर मेरे पास बैठने से। मैं भी किसी को आते देख उससे दूर हो जाती, अन्यथा कोई टोक देता और पाती फिर अपने को क्षय के हवाले कर देती। तो पाती बेहद प्रसन्न थी, पर मैं बेहद दुःखी। मेरे जाने में तीन दिन शेष थे। मैं वहाँ कहाँ रह सकती थी। जब सभी स्वजन वह प्रान्त ही छोड़ रहे

थे। पाती भी क्यों जाने दी जाती मेरे साथ? पाती नव-निर्माण के स्वप्न देख रही थी। मैं नव-निर्माण की भयानक वास्तविकता। मैं उसे सूचित करके उसकी मृत्यु समीप नहीं लाना चाहती थी। पाती जाने क्यों अरुण हो उठी थी। उसके श्यामल कपोलों पर स्निग्धता और दीप्ति जगमग कर रहे थे। वह 'कल फिर आऊंगी!' कहकर चली गई। मैंने भी कहा—'हां, आना; पर परसों न आना। परसों आठ बजे तुम्हें डाक्टर ने बुलाया है। दस-पन्द्रह दिन तक फिर ढाल पर न चढना। मुझ से डाक्टर ने कहा है कि मैं समझाऊँ। मेरा ही कहना न मानेगी, पाती!'

पाती ने सिर हिलाकर प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति दी। दूसरे दिन वह आई मेरे हाथों पर अपने बेतरह पसीजते हुए हाथ रखकर बोली—'अब न जाना तुम, मैं अच्छी हो जाऊँगी!'

मेरी आँखें बरसने के लिए मचल रही थीं। आंसू पीने का प्रयत्न करने में लगता था, अपना रक्त पिए जा रही हूँ। जी में आया पाती के सामने ही जी भर कर रोऊँ। उसके गीले-गीले हाथों को और गीला कर दूँ और कहूँ—'तू मेरे सामने ही मर जा न, पाती! पीछे क्यों मरेगी।' मरने की चर्चा मैं करती और तैयारी तू कर रही है। मेरी आत्मा क्रन्दन कर रही थी। आँखें पाती की दीप्ति की ओर उठ नहीं रही थीं। वह दीपक की अन्तिम लौ की तरह तेजस्विनी जो हो उठी थी।

पाती चली गई। वह चाहती थी आज साथ रहे, पर मैं उसे घर में नहीं ले जाना चाहती थी। सामान की अस्त-व्यस्तता देखकर वह समझ जायगी।

दूसरे दिन आज्ञाकारिणी पाती नहीं आई, पर विश्वासघातिनी सक्कू ने आठ बजे उसे और उसके ग्राम दोनों को छोड़ दिया।

दस दिन बाद उसका प्रथम पत्र मिला, जिसकी प्रतिक्रिया आज भी उसकी आँखों की तरह तरल, सजल और चमकदार है। वह चारपाई

पर पड़ी अपनी अन्तिम श्वासों में मुझे याद कर रही थी। अब वह न बचेगी, क्योंकि मैं उसे छोड़ आई। जादू से अच्छी होने वाली पाती, जादू की तरह फिर जीवन से दूर मृत्यु की ओर दौड़ने लगी।

पाती ने मेरे प्रति-उत्तर की प्रतीक्षा भी नहीं की। उसे नक्षत्र बनने की धुन जो थी। वहाँ पहुँचकर जगह साफ रखने की लगन जो थी। रोनी सक्कू भी न पहुँच जाय। पर यह तो उसकी भूल थी। आन्तर्मुखी आँसू उसके फेफड़ों को गला रहे थे। सक्कू की आँखें बरसतीं थीं, इसलिए केवल कपोल ही धुल सके।

पाती का क्या हुआ, यह बस वही जानती होगी। प्रथम और अन्तिम पत्र ही पाती का अमूल्य उपहार आज भी जीवन की भीख मांगा करता है। उसमें से कभी पाती के बालों-सी महक आती है, कभी अंगूर की बेल जैसी। कभी उसमें जीवन का प्रकाश अँगड़ाइयाँ लेता है, तो कभी मृत्यु की नीरवता; पर पाती कभी नहीं सामने आती; जैसे उसे मुझसे घृणा हो गई हो। पाती स्मृति में सुमन बनकर शेष रह गई है, जिसकी सुगन्ध न जाने कब तक ऐसी ही मधुर, ऐसी ही नवल और इतनी ही सजीव बनी रहेगी।

भिक्षा

'देवी ! प्रभात हुआ।...' यह दासी विनीता का स्वर था, पर जिसके उद्देश्य से ये शब्द कहे गए थे उसे कदाचित् इनकी सार्थकता समझ में न आई। चाँदनी-सी उज्वल शैय्या पर चन्द्रमुखी विभावरी-सी पड़ी हुई संगीता जैसे रजनी का ही स्वप्न देखती रही।

दासी विनीता ने पुनः कोमल स्वर में कहा—'देवी ! निद्रा का त्याग करें। आप न जायेंगी तो भैरवी के स्वर भी मूर्छित पड़े रहेंगे।'

इस बार संगीता कुछ हिली, जैसे रूप के सागर में ज्वार आया हो; उसने पलकें किंचित् अमुद्रित की, जैसे कमल कोष खुल रहे हैं; और विनीता को देख कर उसने एक दीर्घ निःश्वास लिया, जैसे आरोही स्वर अवरोह में मन्द पड़ गए हों।

विनीता ने ममता के साथ पूछा—'स्वामिनी कुछ अवसन्न हैं ?'

संगीता निस्पन्द पड़ी रही, जैसे दामिनी ने चपलता विस्मृत कर दी हो। नेत्र पुनः बन्द कर लिए, जैसे दिवसान्त में कमल मलिन पड़ गए हों। वाणी मौन ही रही, जैसे संगीत सो रहा हो।

दासी विनीता की व्याकुलता बढ़ी—'देवी ! निद्रा में तो व्याघात नहीं हुआ ?'

इतना कह कर विनीता स्वामिनी को विश्राम का कुछ और अवकाश देने के प्रयोजन से चलने को उद्यत हुई। तभी उसने सुना, स्वामिनी पूछ रही थीं—'वीणा प्रस्तुत है ?'

विनीता ने विनम्र स्वर में कहा—'हाँ, देवी।'

संगीता उठी, जैसे रूप जागा। संगीता चली, जैसे नृत्य का उत्सव हुआ। संगीता बोली, जैसे संगीत मुखरित हुआ।

संगीता शैय्या से उठ कर सीधी अलिन्द में आई।

अभी प्रभात का पूर्ण विकास न हुआ था। ऊषा पर रजनी के आँचल की छाया जैसे अभी भी पड़ रही थी। क्षीण कलाओं का कन्द हिमखंड-सा दीख रहा था। नक्षत्र अभी पूर्णतः हत-प्रभ न हुए थे। दक्षिण पवन दक्षिण नायक के समान वनस्पतियों को उल्लास से भर रहा था। संगीता के भवन के पार्श्व से बहती हुई क्षिप्रवेगा क्षिप्रा भी जाने किससे मिलने की उत्कंठा में तटों की भी मर्यादा न मानती हुई निरन्तर आगे ही आगे बढ़ती जा रही थी। रजनी-दिवस की उस संधि-वेला में कर्म और विश्राम जैसे अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व भूल गए थे। वैसी ही भली-सी संगीता स्फटिक मंच पर बैठ गई, वीणा के पास। उस शुभ्र आसन पर, उस शुभ्र वेष में अतिशय कृष्ण, जानु दीर्घ केश मुक्त होकर स्कन्धों से झूलते हुए वक्ष और पृष्ठ प्रदेश पर विश्राम करते हुए अपनी उपमा नहीं रख रहे थे। संगीता ने वीणा को अंक में लिया। दासी विनीता भित्ती का आश्रय ले सुनने लगी।

संगीता की पतली लम्बी अंगुलियाँ वीणा के तारों पर शिथिलता से चल रही थीं। द्रुत से जैसे उनका परिचय न था। एक क्षण बीता, दूसरा क्षण बीता, इसी तरह अनेक क्षण बीते। संगीता की अंगुलियाँ उन्हीं स्वरों को जगाती रहीं। विनीता अचरज से भरी अब चुप न रह

सकी। बोली—'देवी! प्रभात कबसे आपके संगीत-दान की प्रतीक्षा कर रहा है!'

देवी ने जैसा सुना नहीं। भैरवी के स्थान पर विहाग के स्वर ही गूंजते रहे। विनीता कह रही थी—'देवी! रजनी ने ऊषा के रूप में लज्जित हो अस्ताचल की दिशा ले ली है। वह प्राची के भाल पर अरुण का कुंकुम लगा अपने त्याग से स्वयं का मुख उज्वल कर रही है। उदयाचल पर प्रकाश स्निग्ध हो चला है। देवी! यह प्रभात है। भैरव की प्रीति के लिए भैरवी को मुखरित करें।'

संगीता की शिथिल अंगुलियाँ सहसा नितान्त जड़ हो गईं। वीणा को तिरस्कार के साथ उसने अंक से पृथक कर दिया और प्राची को देखने लगी। विनीता ने व्यग्र भाव से पूछा—'देवी! यह क्या?'

संगीता ने अवसाद के साथ कहा—'आज चित्त साधना के योग्य नहीं।'

विनीता ने फिर प्रश्न किया—'ऐसा क्यों, देवी?'

संगीता खिन्न हो उठी। बोली—'क्या कैसे, क्यों के प्रश्नों का तो अन्त नहीं, विनीता! जाने कारण पर ही तुम्हारी दृष्टि क्यों जाती है? कार्य देखकर ही तुम्हें संतोष क्यों नहीं होता?'

विनीता विनयपूर्वक बोली—'क्षमा करें, स्वामिनी! कारण के ज्ञान से निराकरण भी साध्य है।'

संगीता ने संदेह के साथ पूछा—'क्या यह सच है?'

विनीता ने उत्साहित होकर कहा—'हां, देवी!'

'मैं नहीं मानती', संगीता बोली—'विनीता! कारण जानकर भी मैं निराकरण में असमर्थ हूँ। हर समस्या का समाधान हो ही, यह आवश्यक नहीं।'

'देवी! 'विनीता कुछ कहना चाहती थी।

संगीता ने बात काट दी—'बस, जाओ विनीता! मुझे एकान्त चाहिये।' इतना कह कर संगीता ने पश्चिम की ओर दृष्टि डाली। निराधार आकाश में आधार न पाकर उसकी दृष्टि धरती पर उतर आई और अपने भवन के पश्चिम द्वार पर आकर सहसा रुक गई—अपलक!

एक कृश दीर्घकाय ब्रह्मचारी भिक्षापात्र लिये उसके द्वार पर खड़ा था। नंगे पांव, नंगे सिर, गाती में शरीर ढांपे। सिर के रूक्ष कपिश केश ललाट का क्षत्र बने थे और स्निग्ध श्मश्रु उसके ताम्रवर्ण मुख को वय का गौरव दे रहे थे। उसके नेत्र नत थे। भिक्षा पात्र अग्रसर था और अविचलित चरणों को किसी के आकर भिक्षा देने की प्रतीक्षा थी।

संगीता सोचती थी कि वह मुख से कुछ याचना करेगा, पर रुद्ध कपाटों से मौन याचना करने वाले उस भिक्षु बटक पर उसे आश्चर्य ही हुआ। जब तक वह विनीता को भिक्षा देने का आदेश दे, ब्रह्मचारी मुहुर्त भर प्रतीक्षा कर लौट चला था। संगीता प्रयत्न करके भी अपने स्वर से उसकी गति बाँध न सकी, यद्यपि उज्जयिनी में प्रवाद था कि संगीता के स्वर में बद्ध गज भी गमन भूल जाते हैं।

वह दिवस बीता। रजनी तारों की आरती सजा सन्ध्या के द्वार से विश्व के प्राँगण में आ बैठी। उज्जयिनी की अप्रतिम गायिका संगीता का भवन भी दीपों से आलोकित हो उठा। रसिक समाज भी यथावसर एकत्र हुआ, पर आज संगीता उनका स्वागत संगीत से न कर सकी। सब चले गये। शेष रह गया केवल नगर-श्रेष्ठी का एकमात्र तरुण पुत्र कुबेर।

एकान्त पा कुबेर ने पूछा—'देवी ने मेरी प्रार्थना पर विचार किया?'

संगीता के होठों ने जैसे निरुद्देश्य कहा हो—'प्रार्थना?'

कुबेर ने जैसे उद्देश्य दिया हो 'हाँ, प्रार्थना! मेरी कल रात की प्रार्थना! मेरी चिरपोषित प्रार्थना! मेरे जीवन की प्रार्थना!!'

संगीता ने कुछ उपेक्षा से कहा—'शब्द भी तुम्हारे पास कदाचित् असंख्य हैं, स्वर्ण मुद्राओं के समान ही ?'

कुबेर संगीता के गूढ़ व्यङ्ग को न समझकर उत्साहित होकर बोला—'जब से मैंने देवी के दर्शन किये, मौन भूल गया। फिर भी मेरे पास कालीदास की-सी वाक्-सम्पदा नहीं है; पर मैं राज-कवि को सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ देकर तुम्हारे रूप की प्रशस्ति में काव्य-रचना करने को कहूँगा।'

संगीता ने कुछ कटु होकर कहा—'तुम्हारा प्यार शब्द का नितान्त आश्रित है कदाचित् ?'

श्रेष्ठी-पुत्र बिना समझे बोलता गया—'देवी ! अब मैं स्वर्ण-दीप के अपने व्यवसाय की चिन्ता न करके केवल यही सोचा करता हूँ कि किन शब्दों में तुम से अपना निवेदन करूँ। 'देवी ! यदि मैं स्वतः कवि होता तो केवल छन्द में ही तुम से वार्त्ता करता !'

'छन्द का छल कवियों के लिये छोड़ दो, कुबेर !' संगीता ने कहा—'अटपटी वाणी मुझे व्यर्थ लगती है।'

कुबेर आहत स्वर में बोला—'व्यर्थ लगती है, देवी ! वाणी को छन्द सङ्गीत ने दिया और सङ्गीत को मन्त्र-मुग्ध की शक्ति तुम्हारे कल-कंठ ने ! तुम्हारा संगीत सुनने के पश्चात् ही मैंने यह माना कि वाणी अपराजिता है। राजकवि की छन्द-योजना और संगीता की स्वर-साधना किस अविजित को विजित नहीं कर सकती ?'

संगीता बोली—'इस प्रशंसा के लिये कृतज्ञ हूँ, श्रेष्ठी-पुत्र ! पर अभी तक मैं अपने सङ्गीत की इस शक्ति की परीक्षा का अवसर न पा सकी !'

'अवसर !' कुबेर को आश्चर्य हुआ। बोला—'देवी ! राजधानी का समस्त शिष्ट समाज देवी के द्वार की ओर उन्मुख रहा है। क्या यही देवी के सङ्गीत की समुचित परीक्षा नहीं ?'

संगीता ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया—'नहीं !'

कुबेर ने जड़वत् प्रतिध्वनित किया—'नहीं ! भला क्यों?'

संगीता बोली—'वे सब मुखर याचक हैं। मेरे सङ्गीत से अधिक वे मेरे रूप की शक्ति के आगे नत हैं। तुम्ही बताओ, कुबेर! यदि संगीता कुरूप होती, तो उसके इस सङ्गीत पर मुग्ध होकर तुम क्या ऐसी ही प्रार्थना करते, जैसी कि आज कर रहे हो?'

कुबेर ने त्रस्त भाव से कहा—'देवी! वैसी दुष्कल्पना न करें। संगीता का रूप भी संगीत है। मुझे मेरी प्रार्थना का उदार उत्तर देकर अनुग्रहित करें, देवी!'

'उत्तर? संगीता ने धीरे से कहा और पूछा—'प्रतिदान में मुझे क्या दोगे, श्रेष्ठी-पुत्र?'

श्रेष्ठी-पुत्र ने उत्साहित होकर कहा—'सप्त-समुद्रों के व्यापार से प्राप्त अनन्त रत्न-राशि।'

'और?' संगीता ने फिर पूछा।

श्रेष्ठी-पुत्र की समझ में आ ही नहीं रहा था कि इससे भी अनदर्घ्य कोई और वस्तु प्रणय के प्रतिदान में देय हो सकती है क्या? वह आश्चर्य में भर चुप था। संगीता ने व्यंग्य मुस्कान के साथ कहा—'अच्छा, तो अपना उत्तर आज से सातवें दिन ले जाना, कुबेर!'

'सातवें दिन?' श्रेष्ठी-पुत्र के लिए यह अवधि अनन्त थी।

'हाँ, सातवें प्रभात में विहंगों की प्रभाती वेला के कुछ ही पश्चात्।' इतना कह कर संगीता दूसरे कक्ष में अन्तर्हित हो गई और कुबेर खिन्न मन से सात दिनों के असंख्य क्षणों की गणना करता हुआ लौट गया।

उसी रात को दुग्ध-धवल शैया पर अर्द्धशायित अवस्था में संगीता ने दासी विनीता से सहसा पूछा—'विनीता! विश्व भर की सम्पत्ति से क्या विश्व का सभी कुछ क्रय किया जा सकता है?'

विनीता ने तत्काल उत्तर दिया—'दो वस्तुओं को छोड़कर सभी कुछ, देवी!'

संगीता ने फिर पूछा—'दो वस्तु ?'

विनीता ने बताया—'हां, प्यार और मन की शान्ति को छोड़ कर सभी कुछ।'

संगीता उत्सुक स्वर में बोली—'पर मुझे तो ये ही दो वस्तुएँ चाहिएँ। विनीता ! बोलो, कैसे ये साध्य हैं ?'

विनीता को अचरज हुआ। बोली—'समस्त जम्बू द्वीप में जिसके रूप की ख्याति हो, उसे प्रणय की चिन्ता ? जिसका संगीत दूसरों को शांति देता हो, उसे स्वयं की शांति की चिंता ?'

संगीता विदग्ध स्वर में बोली—'सर्वसम्पन्न को ही चिन्ता होती है, विनीता ! मेरे रूप के प्रशंसक आयु के मान में मेरे रूप की कीर्ति करते आते हैं। ये गुण के प्रशंसक अपनी सम्पदा की तुला पर मेरी कला को तोलते हैं। इनके पास न तो सच्ची परख है, न सच्चा प्रणय। मुझे इनसे, निज से, छल छन्द के इस लोक से, चिढ़ है। ये सब मेरा क्रय करने आते हैं। मैं किसी की भिक्षा हो जाना चाहती हूँ।'

'भिक्षा !' विनीता अचरज में डूब गई।

इसके उपरान्त जब विनीता स्वामिनी का आदेश पा शयन के लिये लौटने लगी तो संगीता ने उसे रोक कर कहा—'विनीता ! आजकल तुम्हारे द्वार से याचक रिक्तहस्त ही लौट जाते हैं ?'

'याचक !' विनीता को स्वामिनी आज पहेली लग रही थी।

संगीता ने आशात्मक ढंग से कहा—'कल से नित्य प्रभात में पश्चिम द्वार पर तुम उपस्थित रहोगी।'

विनीता चली गई। संगीता ने सोने का उपक्रम किया।

अगले दिन संगीता ने विनीता से पूछा—'याचक आया था ?'

विनीता ने कहा—'हां, देवी !'

संगीता बोली—'कैसा था ?'

विनीता ने उपहास के साथ कहा—'गूँगा !'

और फिर उससे दूसरे दिन संगीता ने वैसे ही प्रश्न किया—'आज भी याचक आया था ?'

विनीता—'हां, देवी !'

संगीता—'कैसा था ?'

विनीता—'अंधा !'

संगीता गंभीर हो गई । उसने फिर तीसरे दिन पूछा—'याचक आया था ?'

विनीता—'हाँ, देवी !'

संगीता—'कैसा था ?'

विनीता—'जड़ पाषाणवत् !'

फिर चौथे दिन संगीता ने पूछा—'तुमने याचक को भिक्षा में क्या दिया, विनीता ?'

विनीता—'अन्न, शाली और द्विदल ।'

संगीता—'कल उसका भिक्षा-पात्र मोतियों से भर देना ।'

विनीता के आश्चर्य की सीमा न थी, पर स्वामिनी की आज्ञा केवल पालन के लिये होती थी । और पांचवें दिन विनीता ने वैसा ही किया । तब स्वामिनी की आज्ञा हुई कि वह अगले दिन उससे पूछे कि उसने उस भिक्षा का क्या किया । और अगले दिन याचक के लौट जाने के बाद संगीता ने सदा की तरह पूछा—'याचक आया था ?'

विनीता—'हाँ, देवी !'

संगीता—'क्या कहता था ?'

विनीता—'रुष्ट था । कहता था कि ऐसा निर्दय उपहास क्यों किया ? भिक्षा में मुझे अन्न चाहिए । मुक्ता मैं खा नहीं सकता ।'

संगीता—'तो उनका उसने क्या किया ?'

विनीता—'निर्धनों में बाँट दिये ।'

संगीता—'तो वह गूंगा नहीं है, विनीता ! वह बोल सकता है । कैसी थी उसकी वाणी ?'

विनीता—'मधुर, देवी ! पर गूंगा न होने पर भी अन्धा अवश्य है । उसने इन छः दिनों में एक बार भी तो मेरी ओर नहीं देखा । जाने कैसा पुरुष है, जो उसकी दृष्टि को स्त्री की अपेक्षा ही नहीं ?'

संगीता इस संवाद से प्रसन्न हुई । मन ही मन कहा—'वह सच्चा पुरुष है, उसे स्त्री की अपेक्षा चाहे न हो, पर स्त्री को उसकी अपेक्षा अवश्य है ।'

फिर उसने विनीता को आदेश दिया—'विनीता ! कल तुम्हारे भिखारी को भिक्षा मैं दूँगी । पर तुम द्वार पर सदा की नाईं उपस्थित रहना । मेरी वीणा अलिन्द में यथास्थान प्रस्तुत रहेगी । एक सप्ताह से स्थगित मेरी कला-साधना कल पुनः प्रारम्भ होगी । और हाँ, कल श्रेष्ठी-पुत्र कुबेर भी प्रभात में ही दर्शन देंगे । उन्हें द्वार पर ही रोक कर कहना कि वहीं प्रतीक्षा करें । बता देना कि यह मेरा आदेश है ।

इसके बाद अगले दिन अर्थात् सातवें दिन श्रेष्ठी-पुत्र अपने प्रश्न का उत्तर लेने जब आया तो पश्चिम द्वार पर ही विनीता ने उसे स्वामिनी की आज्ञा सुना कर रोक दिया । एक तरुण बटुक रिक्त भिक्षा-पात्र लिये पहले से ही वहां उपस्थित था । कुबेर ने द्वार पर ही रोक दिये जाने के कारण अपमान-कुंठित स्वर में पूछा—'तुम्हारी स्वामिनी कहां है ?'

तभी बटुक ने कहा-'शांति करो, मित्र ! देखो, कैसी रस-वर्षा हो रही है ।'

अलिन्द पर स्फटिक मंच पर बैठी संगीता वीणा पर प्रभाती गा रही थी । श्रेष्ठी-पुत्र कुबेर ने संगीत सुना, पर आज उसे उस स्वर में, जिसकी प्रशस्ति में वह राजकवि से महाकाव्य की रचना कराने की कल्पना किया करता था, जिसको पाने के लिये वह सप्त-सागरों के रत्न निछावर कर देना चाहता था, आज कोई आकर्षण न लगा । एक याचक के

पार्श्व में खड़े-खड़े उसका स्वर्ण-पोषित अभिमान आहत गर्जना कर उठा। उसने कर्कश स्वर में विनीता से कहा—'दासी! अपनी स्वामिनी से कह देना कि कुबेर के पास इतनी सम्पदा है कि वह विश्व भर का रूप और कला क्रय कर सकती है। मैं चला।'

संगीता संगीत बन्द कर अलिन्द पर, वहां आ खड़ी हुई थी, जहां से वह पश्चिम द्वार पर स्थित लोगों को स्वयं देख सकती और वे उसे देख सकते थे। अपमानित कुबेर पैर पटकता हुआ लौट गया था और तरुण याचक एकटक उसी ओर देख रहा था, जिस ओर से संगीत की रस-वर्षा हो रही थी और अब उसकी दृष्टि में संगीत आकृत होकर जैसे समाया था। संगीता ने अनुभव किया कि याचक अन्धा नहीं, उसकी दृष्टि में रूप-गुण का सद्-महत्व है।

क्षण भर उसी अवस्था में रह कर तरुण वटुक ने अचकचा कर द्वार-स्थित विनीता से कहा—'भिक्षा, देवी!'

आज प्रथम और अंतिम बार याचना उसके मुख में मुखर हुई थी। संगीता ने सुना। अलिन्द पर से ही मुक्त उल्लास में बोली—'ठहरो, वटुक! भिक्षा लेकर मैं आई।'

और उस दिन भिक्षुक को जो भिक्षा मिली, उसके फलस्वरूप वह उस द्वार से कभी न लौटा और उस दिन से वह द्वार किसी कुबेर या सुमेर के लिये कभी न खुला।

प्लावन

महानद ब्रह्मपुत्र को उन्माद हो गया था, जैसे महाप्रलय का संकल्प लेकर वह पहाड़ों व वृक्षों को तोड़ता, भूमि को लीलता बढ़ रहा था। चौड़ा पाट, प्रखर धारा, महा विवर्त, यही महानद के लक्षण रह गये थे। भीमकाय वृक्ष उन्मादिनी लहरों के होठों पर क्षुद्र तिनकों से तिर रहे थे। आवर्त बनाती हुई प्रखर धारा बढ़ती, तट से टकराती और दूसरे ही क्षण न तो वहाँ तट रहता, न तट पर का निर्माण; केवल सर्वग्रासी धाराएँ। उस प्लावन को देख कर यही लगता था कि हिमालय के चरणों में एक नये महासागर ने जन्म ले लिया है, जो जीवन के तूफानी उन्माद में अभी शांति का पाठ नहीं सीख पाया है। गाँव के गाँव, बस्ती की बस्तियाँ, जङ्गल के जङ्गल, पशुओं के समूह के समूह, सभी कुछ तो उसकी अमर्यादित तरङ्गों की खिलवाड़ होते जा रहे थे। महानद की ध्वंसकारी धाराओं से दूर दक्षिण के एक सर्वसुरक्षित नगर में एक छोटे से मकान में एकाकी जीवन-यापन करता हुआ जयदेव दैनिक-पत्र के मुख पृष्ठ पर छपे प्रलयकारी बाढ़ के समाचार पढ़ रहा था। पत्र में लिखा था—'डिब्रूगढ़ कुछ ही घन्टों में शेष हो जायगा।'

इस समाचार को पढ़ कर जयदेव जिसकी आयु चालीस वर्ष के लगभग थी असाधारणरूप से अस्थिर हो उठा था। उसने अखबार को धीरे से छाती पर रख लिया और आराम कुर्सी पर निढाल-सा लुढ़क गया। कुछ क्षण बाद उसने अखबार को फिर उठाया। मोटे अक्षरों में डिब्रूगढ़ के ध्वंस होने की सूचना को फिर पढ़ा और अखबार को पटक कर कमरे में इधर-उधर बेचैनी के साथ टहलने लगा। उसका यह कमरा दुमंजिले पर था। कमरे की खिड़की से बाहर उसने झाँका। बाहर कुछ न था। दूर-दूर बने हुये मकान, पेड़ और सुनसान, पर उसकी दृष्टि में इस समय कुछ न था। एक तीव्र व्यथा की बाढ़ ही जैसे उसकी आँखों में तैर रही थी। जैसे समुद्र अपनी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता, वैसे ही उसके मन नयन की वह बाढ़ बरौनियों के पुलिनों में बंधकर जम-सी गई थी; पर जमी न रही। कुछ आँसू लुढ़क पड़े। जयदेव खिड़की पर से हट गया। वह इस कमरे से एक दूसरे कमरे में गया। वहाँ दीवार पर एक आसामी तरुणी का सुन्दर तैल-चित्र टंगा था। वह उसके सामने खड़ा होकर एक टक उस तरुणी के सुन्दर आकर्षक मुख को देखता रहा। कुछ देर उसी अवस्था में खड़े रह कर उसने जैसे उस चित्र से ही कहा—'विजना! ब्रह्मपुत्र में फिर बाढ़ आई है। अखबार कहते हैं कि ऐसी बाढ़ तो इधर सौ साल से नहीं आई। इन बेचारों को पता नहीं कि मेरे जीवन में आज से दस वर्ष पूर्व जो बाढ़ आयी थी, वह कितनी भयानक थी। उसमें कुछ भी न बचा था। कुछ भी न बचा था।...'

कहते-कहते जयदेव का गला भर आया। कदाचित इसी से वह बोलते-बोलते रुक गया। कुछ देर चुप रह कर आवेश में भर कर बोला—'पर विजना! तुमने मुझसे कैसा भयानक बदला लिया था? मैं निर्दोष था! मैं सर्वथा निर्दोष था!!'

जयदेव को लगा कि चित्र सजीव हो उठा है। अब चित्र नहीं, उसकी विजना सामने खड़ी है। उधर ब्रह्मपुत्र महानद उमड़ रहा है, इधर

विजना ज्वालामुखी-सा विस्फोट कर रही है। जैसे विजना ने कहा—'तुम! तुम मेरे दुश्मन हो। तुमने मुझे धोखा दिया है। तुमने मुझे मिटाया है। हट जाओ, मेरी आँखों के आगे से। हट जाओ, हट जाओ, नहीं तो..'

तब जैसे हजारों घटनाएँ एक क्षण में ही गुंफित हो गईं थीं। विजना अब भी चीख रही थी। जयदेव ने अपने कानों पर हाथ रख कर टूटते हुये स्वर में कहा—'विजना! तुमने निर्दोष को दण्ड दिया है! तुम्हारा न्याय अन्याय था!!'

जयदेव अतीत की उन भीषक स्मृतियों का आवेग सम्भाल न सका था। वह उस कमरे में बिछे पलङ्ग पर लेट गया। कमरे में कोई खिड़की न थी। दरवाजे की ओर से ही जितनी रोशनी आ पा रही थी, आ रही थी।

तब जयदेव आसाम में एक 'टी इस्टेट' का मैनेजर था। वह जब कभी बागों के मुआयने पर जाता तो आसामी स्त्रियों के गीतों को बड़े चाव और रस से सुनता। उन सब आवाजों में उसे एक लड़की की आवाज सब से अधिक मनोहर लगती थी। एक दिन जब वह अनजाने ही स्वर से बंधा-बंधा उस मजदूर लड़की के पास पहुँचा तो उसने घबड़ा कर गाना बन्द कर दिया। जयदेव ने धीरे से मुस्करा कर कहा—'तुम बहुत अच्छा गाती हो।'

लड़की कुछ देर चुप रही। उसकी नीली गोल-गोल आँखें नौजवान मैनेजर को देख कर झुक गईं। वह कुछ बोल न सकी।

उस दिन जयदेव चाय के बाग से खुद तो लौट आया, पर अपना मन साथ न ला सका। जब उसकी दिन भर की व्यस्तता समाप्त हो गई और वह कपड़े उतार कर आराम करने के लिये सोने वाले कमरे में पहुँचा तो उसे कुछ ऐसा महसूस हुआ, जैसे वह कुछ बदल-सा गया है। 'क्यों बदल गया है?' यह सवाल उसने अपने आप से किया। जवाब उसे

कोई न मिला और वह चाय के बागवाली उस लड़की की स्मृति में उलझ गया। उसके मन ने कहा—'लड़की सुन्दर भी है।'

और तब जयदेव मन ही मन उसका चित्र उतारने लगा—'इधर की स्त्रियाँ इतनी लम्बी नहीं होती, पर वह है। उसके बाल तो काले अवश्य हैं, पर आँखें नीली। चेहरा असमी है, पर उस पर नाक बहुत ही सुन्दर। आवाज रसीली है। जाने कैसे गा लेती है इतना मीठा।'

उस दिन जयदेव के जीवन में पहला व्यतिक्रम हुआ। वह रात का भोजन करना ही भूल गया। उस लड़की के बारे में सोचता-सोचता ही सो गया। नौकर की हिम्मत न पड़ी कि वह साहब को सोते से जगाये। उसने कमरे की बत्ती बुझा दी।

सुबह सोकर उठने पर जैसे वह उसे भूल चुका था। दिन होने के साथ ही उसकी व्यस्तता प्रारम्भ हो गई थी, पर जैसे ही चाय के बाग में पहुँचा, पचासों स्वरों में से भी एक स्वर ने उसे पकड़ लिया; पर वह उस स्वर से दूर रहा और इससे पहले कि वह स्वर बन्द होता, लौट आया।

रात को खाने के वक्त उसने अपने बूढ़े नौकर से पूछा—'तुझे यहाँ रहते-रहते कितने साल हो गये, बीरू?'

बीरू ने कहा—'चालीस साल। मुल्क गये भी पच्चीस साल हो गये, हुजूर!'

बीरू उत्तर प्रदेश का रहने वाला था, पर वह अपने को अब असमी ही कहता था। जयदेव ने कहा—'तब तो तुम यहाँ के एक-एक आदमी को जानते होगे?'

'बीरू ने गर्व के साथ कहा—'मैं जाने क्या-क्या जानता हूँ। इन चाय के बागों, इस कारखाने और इस बंगले में आकर रहने वाले साहबों के बारे में ऐसी-ऐसी बातें जानता हूँ...' फिर बीरू कुछ रुक कर बोला—'हुजूर! कसम इस धरती की, मैंने आप जैसा साहब तो देखा ही नहीं।

इन चाय के बागों में काम करने वाली ऐसी कौन खूबसूरत औरत होती थी, जो इस बंगले में आकर रात न बीता गई हो...'

जयदेव को कुछ आश्चर्य हुआ। भुँझलाहट भी हुई, पर चुप रहा। बीरू, जो साहबों के बड़े काम का आदमी था, कहता गया—'सरकार! ये गोरे साहब मिजाज के बड़े शौकीन होते थे। मेरा मतलब है, हुजूर!—क्या बताऊँ, आप समझ गये होंगे। जब उनकी मेमें बाहर जाती थीं... क्या बताऊँ, हुजूर! आप से भी भला क्या छिपा होगा, जो मैं बताऊँ?'

जयदेव समझ गया कि बूढ़ा बीरू बड़ा घाघ है। उसके होठों पर यह सवाल कि वह लड़की कौन है, आने ही वाला था कि बीरू साहब के मौन से उत्साहित होकर बोला—'हुजूर खिदमत का मौका दें, तो...'

जयदेव ने यहीं बात को विराम लगा दिया। खाने की मेज पर से उठता हुआ बोला—'अच्छा, अच्छा। अब तुम अपना काम देखो।'

जयदेव अपने सोने के कमरे में आया। पलंग पर लेटे कर पहले उसने कुछ पढ़ने की कोशिश की। जब पढ़ा न गया तो ओवरकोट पहन कर बङ्गले से बाहर की पहाड़ी ढाल पर टहलने लगा। ठण्ड काफी थी, पर उसे मालूम न हो रही थी। इसी तरह वह टहलते-टहलते काफी दूर निकल गया।

जब वह बंगले पर लौटा तो उसके अचरज का ठिकाना न रहा। उसने सुरीली नीली आँखों वाली लड़की को पढ़ने वाले कमरे में इन्तजार करते देखा। वह सहमी-सी कमरे में एक ओर को खड़ी थी। बीरू उसके पास खड़ा-खड़ा जाने को कह रहा था। साहब को देखते ही वह तीर हो गया। जयदेव ने अचरज से भरकर पूछा—'तुम, इस वक्त यहाँ आई?'

लड़की क्या जवाब दे? वह तो बीरू के मुताबिक साहब के हुक्म से ही यहाँ आई थी। बोली कुछ नहीं, चुप रही। जयदेव खुद बोला—'अच्छा, खड़ी क्यों हो? बैठ जाओ। कोई जरूरत आ पड़ी है? बोलो, मैं क्या मदद कर सकता हूँ?'

लड़की ने अजीब ढंग से जयदेव के मुँह की तरफ देखा। बड़ी हड़बड़ी के साथ उसके मुँह से निकला—'कुछ नहीं ! कुछ नहीं !' और यही कहती-कहती वह भाग गई।

जयदेव कितनी ही देर तक कुछ समझ न सका। तभी बीरू पर उसकी दृष्टि पड़ गई। वह दरवाजे के बाहर ही खड़ा-खड़ा हैरत से साहब को देख रहा था। जयदेव ने कड़क कर कहा—'बीरू ! तुम लाये थे उस लड़की को यहाँ ?'

बीरू चुप था। जयदेव ने चेतावनी के ढंग से कहा—'इस बार मैंने माफ किया। आइन्दा ऐसी हरकत की तो...'

विजना मन से एक पहाड़ी युवक की हो चुकी थी। वह भी उससे प्रेम करता था; पर उस रात को जब बीरू बहका कर साहब के पलंग पर ले आया, तो वह नौजवान इस सूचना को पाकर जहर से भर गया। कुछ ही दिनों में उसकी विजना से शादी होने वाली थी, पर जब उसे यह खबर लगी, तो वह आपे से बाहर हो गया। उसने विजना पर खुखरी से घातक प्रहार किया और गायब हो गया।

इसी तरह कई दिन बीत गये। एक दिन जब जयदेव फिर उसी बाग के मुआयने पर गया तो उसकी आँखें बेचैनी से उसी लड़की को ढूंढ़ने लगी। रोज तो उसकी सुरीली आवाज दूर से ही उसे अपना पता दे देती थी, पर आज ढूंढ़े भी उसे न मिली। जब वह दिखाई न पड़ी तो उसने मजदूर स्त्रियों के मुखिया से पूछा— 'सब काम पर आती हैं न ?'

'हाँ, सरकार !' उनने जवाब दिया—'बस, एक लड़की गैरहाजिर है, हुजूर ! बीमार है, कई रोज से। सख्त चोट खा गई है। किसी ने अँधेरी रात में उसे घायल कर दिया है।'

'ठीक ! ठीक !!' जयदेव ने कहा। उसे विश्वास हो गया था कि यह वही लड़की है। वह परेशान-सा घर लौट आया।

इस घटना को इतने वर्ष बीत चुके थे । पर डिब्रूगढ़ की बाढ़ के समाचार से त्रस्त जयदेव को यह घटना कल की ही लग रही थी । बेचैनी से उसने करवट ली । कहाँ दक्षिण, कहाँ डिब्रूगढ़ । इतना समय बीत गया । बाढ़ में इतना सब कुछ डूब गया । पर यह स्मृति नहीं डूबी । क्यों नहीं डूबी ?

फिर घटनाचक्र ऐसा चला था कि चाय स्टेट के मैनेजर ने उस कुली लड़की से शादी कर ली थी । साहब की अक्ल पर सब तरस खा रहे थे । बीरू को भारी अचरज था । वह सोचता था कि उस लड़की को पाने के लिये शादी की क्या जरूरत थी ? और उससे भी अधिक अचरज तब हुआ जब साहब ने नौकरी छोड़ दी थी और उस लड़की को लेकर कहीं चले गये थे ।

अपने पलंग पर पड़ा-पड़ा जयदेव सोच रहा था, कई वर्ष पूर्व की बातें । वह डिब्रूगढ़ आकर बस गया था । उसने वहाँ फोटोग्राफी का काम शुरू कर दिया था । शहर के बाहर ब्रह्मपुत्र के किनारे ही उसने एक छोटा-सा बंगला किराये पर ले लिया था । वैसे भी उसने अपनी पत्नी विजना की इच्छा के अनुसार ही किया था । उसने कहा था—'मैंने तुम से नौकरी इसलिये छुड़वाई कि मैं वह जगह छोड़ना चाहती थी । वहाँ की एक-एक चीज में मेरे लिये कुछ ऐसी यादगारें थीं जिन्हें मैं भूल जाना चाहती थी ।'

जयदेव को विश्वास था कि उसका प्यार, उसका वैभव, उसके लिये नये लोक की सृष्टि कर देगा, पर वह लोक दूर रहा । शादी के बाद विजना के मुख से मुस्कान न फूटी । गीत न फूटे । जयदेव गाने को कहता तो वह रो पड़ती । फिर भी वह जयदेव की धर्मतः पत्नी थी और इसी धर्म ने एक दिन उसे मातृत्व के भाव से भी युक्त कर दिया ।

इस समाचार से जयदेव निहाल था । पर तब से विजना और भी उदास होती गई । फिर अचानक प्रसव वेदना के बाद विजना ने

पुत्र-रत्न को जन्म दिया। जयदेव अतिशय प्रसन्न था, विजना अतिशय म्लान। अपनी खुशी में जयदेव उसकी वेदना को न देख पाया। पर बच्चा तीसरे ही दिन मर गया। जयदेव एकान्त कमरे में जाकर खूब रोया था, विजना चुप थी।

जयदेव ने फिर करवट ली। वह भी भूलना चाहता था, पर नहीं भूल पा रहा था। ब्रह्मपुत्र में फिर बाढ़ आयी थी। महानद फिर फूत्कार कर उठा था। उसके तरंगाघातों से पहाड़ खिसक गये थे, वृक्ष निर्मूल हो गये थे, तट चूर-चूर हो गये थे, अखबारों में उसी बाढ़ की चर्चा है। पर तब ? तब ठीक दस वर्ष पूर्व ...वह तो इससे भी भयानक बाढ़ थी। जयदेव के लिये तो वह प्रलय थी। अखबारों का कहना झूठ है। इस बाढ़ में जयदेव की क्या क्षति हुई ? क्या क्षति हुई भला ? और उस बाढ़ में ? ओः कितनी भयानक थी। महानद किनारों को लीलता हुआ जयदेव के मकान के समीप तक पहुँच गया था। जयदेव तब अपनी प्रियतमा की जीवन-रक्षा के लिए चंचल हो उठा था। उसने कहा था—'बिज्जो ! अब हमें एक क्षण भी नहीं रुकना चाहिए। आज की रात पानी और बढ़ेगा। पानी के थोड़ा बढ़ते ही यह मकान बह जायेगा। हमें सुरक्षित स्थान पर चले जाना चाहिए !'

विजना ने छत पर से ब्रह्मपुत्र के तांडव को देखते हुए कहा था—'मेरे जीवन का शुभमुहूर्त आ रहा है। मैं कहीं नहीं जाऊँगी। तुम्हें डर लगता हो तो भाग जाओ। आज मेरा मन नाच रहा है। आज मैं गाना चाहती हूँ। आज मैं ऐसा गाना गाना चाहती हूँ कि महानद भी तड़प उठे।'

और विजना रो पड़ी थी। जयदेव को याद आया। वे आँसू सचमुच ही प्रलयंकर थे। उसने उन्हें पोंछने को हाथ बढ़ाया था तो विजना ने हाथ ही झटक दिया था। वह नागिन सी फूत्कार कर उठी थी। गरजती-सी उसने कहा था—'मुझे मत छुओ। मत छुओ, अपने

अपवित्र हाथों से। तुम! ओः तुम मेरे सबसे बड़े शत्रु हो। तुम सोचते होगे कि तुमने मुझ पर एहसान किया है, शादी करके। पर मुझे तुम्हारा महल नहीं चाहिए था। मेरा झोपड़ा अच्छा था। मेरा रंजन अच्छा था। पर तुम! तुम शत्रु हो। तुमने मेरी मुस्कान की चिता जलायी। पर आज मैं हँसूगी। आज मैं गाऊँगी। आज की रात मुझे न छूना। न छूना मुझे।...'

जाने कब गाना बन्द हुआ। जाने कब विजना नीचे आयी। उदासी से जयदेव के कन्धे पर सिर रख कर बोली—'बुरा मान गये? तुम भी बुरा मान जाते हो। तुम तो मुझे प्यार करते हो। तुम देवता हो मैं राक्षसी हूँ। ओः क्या करूँ, नहीं भुला पाई अपने राक्षस को। तुम मेरे हो, मैं तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी।'

पर रात में ही महानद का पराक्रम भीषण हो उठा था। उसकी धाराओं ने बढ़कर जयदेव के मकान को तरंगों की अर्गलाओं में बाँध लिया था और फिर कुछ ऐसे प्रहार किये कि बूढ़े मकान की कमर टूट गई। अगले दिन जब रिलीफ पार्टी वहाँ पहुँची तो मकान के खंडहरों में से जल में अर्धनग्न दम्पत्ति को निकाला। दोनों आहत और बेहोश थे। जयदेव तो ठीक हो गया, पर विजना की बेहोशी कभी न टूटी।

यहाँ आते ही स्मृति निःशेष हो गई। जयदेव अपने पलंग पर से उठा। वह बराबर वाले कमरे में आया। अखबार उठाया। बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए उसमें अपील भी थी। जयदेव ने उस अपील को गौर से पढ़ा। फिर न जाने कैसे भाव से उसने अपनी चैकबुक उठाई और पाँच सौ रुपये का चेक सहायता-कोष के लिए काट कर वह निश्चेष्ट-सा कुर्सी पर आ लुढ़का।

देव-अदेव

महासागर में उस समय मंथन चल रहा था। मंदराचल को मथानी बनी, नागराज वासुकि की रज्जु। देव-अदेव दोनों ने मिल कर मंथन आरम्भ किया। लक्ष्य था अमृत। देव-अदेव के सम्मिलित पराक्रम से महासागर विक्षुब्ध हो उठा था। नागराज वासुकिघर्षण की वेदना न सह पाकर गरल उगल रहे थे। उनके गरल से उत्तेजित अदेव मंथन में और भी भीम पराक्रम प्रदर्शित कर रहे थे। देव नागराज की पूँछ की ओर होने के कारण गरल से सुरक्षित थे। महासागर कृपण की नाईं अपनी अमूल्यनिधि देने को प्रस्तुत न था। उसने अपने अमृत की रक्षा के लिये अनेक प्रलोभन दिये। उसने चाहा देव-अदेव उसका सर्वस्व लेकर भी उसका अमृत उससे न छीनें। उसने गजरत्न ऐरावत को दे डाला। अश्वरत्न उच्चैश्रवा का भी लोभ छोड़ दिया। अमृत की रक्षा के लिये सुधांशु तक का दान कर दिया। इतना ही नहीं आत्मजा लक्ष्मी तक का उत्सर्ग कर दिया। पर देव-अदेव को अमृत अभीष्ट था। मंथन चलता रहा। महासागर विक्षुब्ध होता रहा।

तब भी हिमवान के कैलास शिखर पर अपूर्व शान्ति थी । पुरातन पुरुष-सा हिमालय जैसे धरती को अपनी विस्तीर्ण भुजाओं में लपेटे विश्व की लीला निमीलित नेत्रों से देख रहा था। उसके शुभ शृङ्ग ऊर्ध्वगामी पुण्य से नभ में अनेकों स्वर्गों की सृष्टि कर रहे थे। कैलास शिखर हिमालय के तप-सा अपनी साधना के पुण्य स्वरूप देवाधिदेव महादेव का आश्रय बन कर पर्वतराज की पुण्य परम्परा को बढ़ा रहा था। महादेव मरकत शिला पर विराजमान थे । बाघम्बर उनका कटि-वस्त्र था। सहज भाव से वे व्यालों से क्रीड़ा कर रहे थे। कोई व्याल उनके गले का हार बन गया था, कोई केयूर। पार्वती समीप बैठी हुईं मुग्ध भाव से बमभोले की लीला देख रही थीं। उन्हें अपनी उस उग्र तपस्या पर प्रसन्नता थी जिसके फलस्वरूप उन्हें शिव सा समदर्शी भोला पति मिला हिमवान की सात्विकता ही जैसी पार्वती के रूप में प्रकटी थी। शिव का वाहन नन्दी गर्वित दृष्टि से युग्म को निहार रहा था। अधिक उल्लास से भर वह पर्वत शृङ्गों पर अपने शृंगों का पराक्रम प्रदर्शित करने लगता। शिव की वात्सल्य भरी दृष्टि का आमन्त्रण पा उनके चरणों के सामने लोटने लगता। शिव उसके कूट पर प्यार से हाथ फेर कर उसके जीवन को पुरस्कृत कर डालते। शैलजा मुग्ध भाव से पशु और पशुपति की उस आत्मीयता को देखतीं।

मुदित नन्दी और हर्षित व्यालों को देख कर शिवा ने पूछा—'आनन्द का सत्य क्या है देव ?'

शिव ने सस्मित कहा—'आनन्द तो स्वयं सत्य है।'

शिवा ने पुनः प्रश्न किया—'पर उसकी उपलब्धि कैसे हो ?'

शिव बोले—'यह नन्दी से पूछो। जब वह निखात क्रिया में प्रवृत्त हो शिव तक को भूल जाता है, उस क्षण के उसके आनन्द को देखो और या इन व्यालों से पूछो, जो कुमार के मयूर का भय न मानते हुये मेरे वलय बन कर सब कुछ भूल जाते हैं।'

शिवा की जिज्ञासा शान्त न हुई । पूछा—'तो देव-अदेव किस लिए समुद्र-मंथन का यह महाश्रम कर रहे हैं ?'

शिव ने कण्ठलग्न व्याल को सहलाते हुये कहा—'अमृत के लिए ।'

शिवा बोलीं—'क्या आनन्द के अमृत से वे वंचित हैं ?'

शिव उसी प्रसन्नमुद्रा में बोले—'शिवा ! आनन्द तो सरल जीवन का अमृत है । वह न तो देवों के पास है, न अदेवों के पास । जानती हो, दोनों ही विग्रह के उपासक बने हैं । दोनों ही एक दूसरे की शक्ति से भयभीत हैं । फिर भी दोनों ही अमृत के लोभी हैं । मुझे लगता है दोनों ही मूर्ख हैं ।'

'पर देवों को अमृत का लोभ क्यों ?' पार्वती पूछ बैठीं—'वे तो स्वतः अमर हैं ।'

शिव के अंगों से क्रीड़ा करते हुये व्याल एक दूसरे से गुंथ गये थे । उधर कैलास शिखर पर एक मेघ-खंड विश्राम करने को उतर आया । नन्दी ने उसे अपना प्रतिस्पर्धी जान कर हुँकार किया । नन्दी की आनन्द भंगिमा लुप्त हो गई । ऊर्जस्वित रोष अङ्ग-प्रत्यंग में परिलक्षित होने लगा । शिव बोले—'देखो, भोले नन्दी को देखो । बादल के भय में अपने आनन्द का अमृत खो बैठा और रोष का विष वमन करने लगा; और जिन्हें देवी अमर कहती हैं, वे अमर होकर भी अभय नहीं । इसी से अमर को भी अमृत की आवश्यकता पड़ी ।'

पार्वती बोलीं—'पर देवों का तो अभियोग है कि महादेव का वरदान ही उनके भय का कारण है । असुरों को अपने वरदानों से आशुतोष ने इतना प्रबल कर दिया है कि इन्द्र के मन में भी उनका आतङ्क कभी दूर नहीं होता ।'

आशुतोष ने स्पष्ट किया—'शैलजे ! देव द्वैत से त्रस्त हैं; वे समस्त सृष्टि में इसी द्वैत को देख कर पीड़ित रहते हैं । मैं कैसे उनके द्वैत को

स्वीकार कर लूँ ? मुझे तो ये गरलमय व्याल भी प्रिय हैं। मुझे तो आनन्द नन्दी की उद्धत निखात क्रिया से भी मिलता है । असुर मुझसे याचना करने आते हैं । कैसे उन्हें निराशा कर दूँ। मुझे तो वे देवों से पृथक नहीं दीखते ।'

इतना कह कर महादेव ने दूर दक्षिण दिशा में महासागर की ओर दृष्टि डाली। शिव की दृष्टि का अनुधावन करती हुई शिवा ने देखा समुद्र-मंथन का अभूतपूर्व दृश्य। मंदराचल की मथानी से आलोड़ित महासागर उत्ताल तरङ्गों में अपना आक्रोश व्यक्त करता । तरङ्गों की भुजाएँ फैला कर जैसे महासागर धरती लील लेना चाहता । मंथन की वेदना से महासागर का जल नील से लोहित हो गया। समुद्र फेन भी रक्तवर्ण हो उठा। जल-जीवों में त्राहि-त्राहि मच गयी। प्रलय का-सा दृश्य उपस्थित हो गया। देवासुर अविचल भाव से मंथन करते रहे।

शिव ने पार्वती को वह दृश्य दिखा कर कहा—'देखो तो शिवा ! अकेले असुरों में इतनी शक्ति नहीं कि वे समुद्र-मंथन कर अमृत की उपलब्धि कर सकें। जो अमृत देव-अदेव के सम्मिलित पराक्रम से ही उपलब्ध हो सकता है, उस अमृत के लोभी देव यह नहीं समझ पा रहें हैं कि वे असुरों से भिन्न नहीं !'

शिवा ने तभी एक शंका की—'पर आशुतोष ! अभी तो असुर अमर नहीं; किन्तु अमृत की प्राप्ति के बाद तो·····'

शिव व्यंग्य-गर्वित मुस्कान के साथ बोले—'देवता इतने सरल नहीं। असुर मायावी कहलाते हैं। उनकी माया को अभेद्य कहा जाता है। पर यह देव तो छली हैं । इनका छल तो स्वयं विधाता नहीं जानते। देव अवश्य ही असुरों को अमृत से वञ्चित कर डालेंगे। पर तब भी वे भय से मुक्त न हो सकेंगे।'

शिवा ने पूछा—'तब कौन सा भय रह जायेगा ?'

शिव का संक्षिप्त उत्तर था—'अमृत की रक्षा का।'

तभी विश्व को बधिर करता हुआ महासागर के वक्ष को विदीर्ण कर महाकोलाहल उठा। हिमवान की छाती तक में दरारें पड़ गयीं और अनेक नूतन स्रोत फूट पड़े। भूकम्प से अनेक नगर पाताल के गर्भ में समा गये। आकाश में उल्कापात हुआ। देव-अदेव का साहस भी काँप उठा। समुद्र का जल वाष्प बन कर महाशून्य में उड़ चला। विविध वर्ण के नील, लोहित, श्याम, मेघों का पुंज, आकाश के प्राणों को रूंधने लगा। पवन दिशाएँ भूल विक्षिप्त-सा द्रुम-वीरुधों का नाश करता हुआ इधर से उधर उड़ने लगा। धरा धूलिकणों में विकीर्ण हो आकाश में आसन ग्रहण करने उड़ चली। समुद्र से आग की लपटें निकलने लगीं। उनकी ज्वाला देव-अदेव के लिए असह्य हो उठी। महारव मच गया। महासागर विषैली आग उगल रहा था। देव-दानव चीत्कार कर उठे। यह अमृत के स्थान पर कैसा ज्वालामय गरल था। देवों ने चीत्कार कर कहा—'इन्द्र रक्षा करें!'

पीड़ित इन्द्र ने विकल नाद किया—'विष्णु रक्षा करें! रक्षा करें!!'

असुर चिल्लाये—'आचार्य शुक्राचार्य!'

शुक्राचार्य ने पुकारा—'देवाधिदेव महादेव!'

उधर आकाश में बिजलियाँ टूटीं। पर्वत पाताल में धंसने लगे। ब्रह्मा-विष्णु किंकर्तव्यविमूढ़ हो गए। उस असह्य ताप को न सह पाकर देव-अदेव मूर्छित होकर गिरने लगे। म्रियमाण देवासुरों का विकल चीत्कार और भी भयानक हो उठा।

हिमवान के शुभ्र-शृङ्ग कलुष पड़ गये। कैलास की श्री हत हो गयी। नन्दी विकल हो शिव के चरणों में लोट पड़ा। शैलजा का वाहन सिंह संज्ञा खो बैठा। व्याल भी उस विष का ताप न सह सके। शैलजा का

पद्म-सा स्वच्छ मुख कुम्हला गया। वे विश्व की व्याकुलता में अपनी विकलता का योग दे शिव से पूछने लगीं—'यह क्या होने चला है, देवाधिदेव! अमृत की खोज में यह अग्निप्रलय का दृश्य कैसे उपस्थित हो गया?'

शिव ने शांत मुद्रा में कहा—'यह अग्निप्रलय नहीं, कालकूट है, देवी! महासागर अपने जिस विष से विश्व की प्राण-रक्षा करता रहा, आज अमृत की रक्षा के लोभ में उसी का विसर्जन कर रहा है।'

शिवा ने करुणापूर्ण होकर कहा—'ओह! जीवों का यह कैसा पाप उदय हुआ?'

शिव बोले—'पाप! हाँ, पाप ही कहो, देवी! अमृत की उपलब्धि का अनुष्ठान यज्ञ के समान पवित्र है, पर उसका सम्पादन पवित्रता से न किया जा सका। देव-अदेव दोनों ही अकेले अमृत को हड़पने के यत्न में थे। उसका दुष्परिणाम ही है यह। अमृत मन की शुद्धि के बिना नहीं मिलता। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, विग्रह, भय के कालकूट का पान किये बिना कोई अमृत का अधिकारी नहीं होता।'

जगदम्बा की वत्सलता उस प्रलय दृश्य को देख कर मचल उठी। बोलीं—'मेरे शङ्कर! समस्त सृष्टि का संहार हो जायगा। रक्षा करो, आशुतोष! कोई उद्यम करो। देवाधिदेव! देखो, विष्णु और विधाता भी विकल भाव में तुम्हारी ही ओर देख रहे हैं। क्या महासागर देवों की याचना से विष का संवरण नहीं कर सकता?'

शिव ने कहा—'अब यह उसकी भी शक्ति के बाहर है। कालकूट अब विस्तार पा गया है। उसे समेटने की चेष्टा में तो अब महासागर ही वाष्प बन कर उड़ जायगा।'

'तो अन्य क्या उपाय है, देव?' शिवा ने सानुनय पूछा।

'देखो, उपाय के समीप विष्णु और ब्रह्मा को आगे कर ये देव चले आ रहे हैं।' शिव ने कहा।

पार्वती ने देखा—मलिनकान्ति देव शिव की शरण में आये थे। वे करबद्ध हो वन्दना की वाणी में बोले—'देवाधिदेव! अब हम तुम्हारी ही शरण हैं। हे, व्याल-विभूषण! तुम्हीं इस कालकूट से हमारी रक्षा कर सकते हो। हे, महादेव! देवों की रक्षा सदा तुम करते आये हो। हे, आशुतोष! जिस प्रकार कुमार कार्तिकेय को जन्म देकर तुम ने पूर्वकाल में हमारी विनाश से रक्षा की, उसी प्रकार अब भी तुम रक्षा करो।'

शिव देवताओं की अर्चना सुन कर अम्बा की ओर देखने लगे। तभी विष्णु ने अपनी विराट वाणी में कहा—'हे, महादेव! तुम किस विचार में पड़ गये? प्रलय के विधाता रुद्र! तुम्हीं में वह शक्ति है कि प्रलय का विरोध कर सको। हे, त्रिलोचन! इस कालकूट का पान कर हम सब की रक्षा करो। हम शरणागत हैं।'

विनय से प्रसन्न होकर शिव ने स्मित का विस्फार किया। उन्होंने कालकूट का आवाहन किया। देवों में जीवन की आशा जागी। शिवा विकल हो उठीं। अनायास ही बोल उठीं—'हे, आशुतोष! तुम विश्व की रक्षा कर रहे हो, पर मेरे सौभाग्य की भी रक्षा करना!'

शिव ने विहँस कर कहा—'अपने सौभाग्य की रक्षा में तुम स्वयं समर्थ हो, भवानी! शिव तुम्हारी विश्रुत तपस्या का फल है। कालकूट भी उसे क्षीण नहीं कर सकता। तुम देवों को अभय दो।'

इतना कह कर शिव ने अपने मुख का विस्फार किया और एक ही घूंट में उस कालकूट का पान कर लिया। वह कालकूट, जिसका पाचन देवाधिदेव के लिये भी साध्य न था, उसे उन्होंने अपने कण्ठ में ही निरुद्ध कर लिया। कालकूट की महा-ज्वाला से श्वेत-शङ्ख-सी शिव-ग्रीवा नील पड़ गयी। समस्त देव समाज शिव के उस महाप्रताप को देख कर शिव की मौन-स्तुति करने लगा।

कालकूट के ताप के दूर होते ही प्रकृति अपने स्वभाव में आ गयी। विकल विश्व में मोद व्याप गया। सर्वत्र नूतन प्राणों का संचार हुआ।

उपस्थित देव समाज की स्तुति से प्रसन्न होकर महादेव ने कहा—'जाओ, देवों जाओ ! अमृत का यज्ञ सम्पन्न करो । यह कालकूट तुम सबके मन का भय-रूप विष ही था । इसके संहार के बिना अमृत की उपलब्धि असम्भव थी । असुरों ! जाओ; मैंने तुम्हें अभय किया । अमृतफल तुम्हें अनायास ही मिल सकेगा ।'

कृतज्ञ स्वर में सब देव पुकार उठे—'धन्य हो, नीलकण्ठ ! धन्य हो । कालकूट को कंठ में धारण कर ब्रह्मांड को अभय देने की शक्ति केवल तुम में है । हे, देव ! आज से तुम्हें लोक नीलकंठ पुकारा करेगा और अनन्त काल तक इस नाम के माध्यम से अपनी कृतज्ञता-ज्ञापन करता रहेगा ।'

देवों ने अमृत पाया । नीलकंठ सहजभाव से पार्वती सहित नन्दी और व्यालों की क्रीड़ा में मग्न हो गये । सृष्टि चलती रही ।

यह एक पुरानी कहानी है । इसे दुहरा कर मैं सोचती हूँ कि शान्ति के अमृत की प्राप्ति के लिये जो विश्व-मंथन चल रहा है इसमें देव कौन हैं और अदेव कौन ? और कहीं दूषित मनों के कारण विग्रह का कालकूट उत्पन्न हुआ तो नीलकण्ठ कहाँ अवतार लेंगे ?

कन्याकुमारी

'कन्या-कुमारी' जब किसी प्रसंग में यह नाम आता है तो मेरे पति खूब हंसा करते हैं। हंसते हुए वे यही कहा करते हैं कि कोई भी अलंकार शास्त्री इस नाम में पुनरुक्ति दोष को क्षमा न करेगा। पर मुझे जब कभी कन्या-कुमारी की अपनी यात्रा का स्मरण हो आता है, मैं आंसुओं के ऐसे सागर में डूब जाती हूँ जिसमें विषम वेदना के ज्वार उठते रहते हैं....।

हां, उसका नाम कृष्ण-वेणी ही था। इस नाम की सार्थकता भी उसमें पूरी-पूरी मिलती थी। काली नागिन सी वेणी उसकी अंग-यष्टि से ऐसे ही लिपटी रहती थी जैसे... उपमा क्या दूं; मलयाचल के चन्दन वृक्ष तो मैंने नहीं देखे, न उनसे लिपटे भुजंग। फिर कैसे कहूँ कि उसका सौंदर्य कुछ वैसा ही था। जो भी हो, जब मैंने उसे कन्या-कुमारी के मन्दिर में नतजानु देखा था तो मेरा मन करता था कि इस कृष्ण-वेणी को सदा पीछे से ही देखती रहूँ।

और यह कृष्ण-वेणी दो दिन के लिए मेरी परिचारिका बन गई थी। मदुरा से सुबह ही तो हम कन्या-कुमारी पहुँचे थे। वहीं हमें इस डाक-

बंगले तक लाई और वही अब हमारी मार्ग-दर्शिका, सेविका और सहायिका सब कुछ बनी हुई है।

जब हम स्नान करने जा रहे थे, तो रास्ते में, मैंने उससे पूछा—'वेणी! तुम लोग सोने को, अपने अंगों की सुन्दरता से भी अधिक महत्व क्यों देती हो?'

वह समझी नहीं थी। इसी से पूछा था—'क्या मेम-साहब?'

मैंने कहा—'मेम—साहब नहीं, बीबी जी कहो। मैं तुम्हारे इन फटे हुए कानों के बारे में कह रही थी।'

उसने अपनी ग्रीवा को हिलाया, जिससे कानों के नीचे लटक आने से, स्कन्धों को चूमते हुए उसके कर्णाभूषण आंदोलित हो उठे थे। वह बोली—'यह तो हमारे यहां सुन्दरता का लक्षण माना जाता है मेम... नहीं बीबी जी!'

उसके मेम-साहब कहने के अभ्यास पर मुझे कुछ हंसी आई और फिर मैं उसकी सौंदर्य-भावना और सौभाग्य-आस्था पर सोचने लगी। मैंने उससे पूछा—'कानों के इस आभूषण को कहते क्या हैं?'

उसने संक्षिप्त-सा उत्तर दिया—'पांबड़म!'

बड़ा कर्ण-कटु लगा वह नाम मुझे। और इस पर भी उसे स्थान दिया गया कर्ण के सब से समीप। पता नहीं आपने कभी किसी दक्षिणी सुन्दरी के 'पांबड़म' से आयत कर्ण देखे हैं कि नहीं?

शायद कनफटे बाबा तो देखे होंगे। उन कानों के साथ किसी ऐसे आभूषण की भी कल्पना कर लीजिए...आभूषण! पिरामिड देखे तो नहीं पर चित्रों से उनकी आकृति का अनुमान लगा सकती हूँ। उनमें चिनी हुई भारी शिलाओं को कल्पना से मन में उभार लेती हूँ तो ये 'पांबड़म' भी मुझे किसी वैसे ही पौरुषपूर्ण शिल्प का लघु रूप लगते हैं।

क्षण भर को मुझे कृष्ण-वेणी पर दया-सी आई। पर वह मुस्कराती हुई कह रही थी—'बीबी जी! यह पांवड़म तो हमारे यहां की सुहागिनों के लिए गौरव की बात है।' इतना कहते ही उसकी ग्रीवा फिर लहराई, जिसमें उसके गर्व की गहरी अभिव्यक्ति थी। मैंने पूछा—'तो तेरा ब्याह हो गया?'

उसके चेहरे पर लाली की लहर दौड़ गई, जिसमें क्षण भर को उसके चेहरे की श्यामलता डूब ही गई। उसने नीची नजर से जमीन को जैसे कुरेदते हुए कहा—'बीबी जी! यह तो सिर्फ मैं ही जानती हूँ कि मेरा ब्याह हो गया है।'

बात कुछ पहेली-सी-लग रही थी। वह कह रही थी—'सच, बीबी जी! मेरे मां-बाप को भी इसका पता नहीं और न वे ही जानते हैं।'

पहेली कुछ और जटिल हो गई थी। उसने स्वयं ही समाधान किया—'हां, देवी कन्या-कुमारी जानती हैं। मैंने उन्हीं के मन्दिर की देहली छूकर शपथ खाई है—या तो उनको ही वरूंगी, नहीं तो कुंआरी रह जाऊंगी।'

पता नहीं आपने कन्या-कुमारी के दर्शन किये हैं कि नहीं? दर्शन की कई बलाएँ होती हैं। मैंने अभिषेक के समय भी दर्शन किए हैं और और उसके पश्चात् भी। कुमारी की मानवाकार कलापूर्ण प्रतिमा पर जब अभिषेक-कलश से तीन सागरों की जल की धाराएं पड़ती हैं तो कुमारी ऐसी प्रतीत होती हैं, जैसे स्वर्ण को प्रामाणिकता देनेवाली कसौटी पर रजत की धाराएं बरस रही हों और अभिषेक के बाद जब शृंगारपूर्ण प्रतिमा के दर्शन होते हैं तो कुमारी यज्ञवेदी से निकली दीप्तशिखा-सी जान पड़ती हैं। कृष्ण-वेणी उस समय मुझे अभिषेक-वेला की कुमारी ह लगी, जिसकी श्यामल प्रतिमा पर संचित स्नेह का सागर उमड़ रहा था। तब बात वहीं रह गई थी। वे आ गए थे। कृष्ण-वेणी जाने किस

काम में लग गई थीं। फिर घूमते-घामते दिन बीत गया। सन्ध्या समय कृष्णा-वेणी छुट्टी लेकर घर चली गई थी।

पूनो की रात थी। पूनो के चांद को पकड़ने के लिए आज महासागर बड़ी तैयारियां करेगा। हम रात होते ही महासागर के उस बावलेपन को देखने चल दिए।

सागर-तीर की रेती पर हम बैठ गए। महासागर की जल-लहरियां व्याल रूप धारण कर रहीं थीं। वह जितना चंचल था, आकाश उतना ही शांत। चांद की ज्योति में तारे हतप्रभ लग रहे थे। फिर भी आसपास कुछ साहसी ज्योतिपिण्ड छिटके हुए थे। उन्हें देखकर मेरे पतिदेव ने पूछा—'तुम्हें इस समय यह चांद कैसा लग रहा है?'

मैंने कहा—'मुझे तो यह चांद सलोना आकाश-गंगा का मोती लग रहा है।'

वे बोले—'यह तो कविता हुई, ठीक ठीक बताओ कैसा लग रहा है?'

मैंने फिर कहा—'इस बार तो मुझे यह आकाश-सुन्दरी का नन्हा बच्चा लग रहा है, जिसे परियां जैसे अभी दूध की धाराओं से नहलाकर संवार गई हैं।'

वे हंस पड़े। बोले—'अब तुमने एक मां के मन की बात कही। मैं बताऊँ, मुझे कैसा लगता है यह?'

'हूँ, बताओ।' मैंने कहा।

वे बोले—'मुझे तो यह ऐसा लग रहा है कि जैसे कोई यह तुंदिल मोटा आदमी हो जो नटखट बच्चों से जान छिपाने भाग रहा हो।'

मैंने देखा—चांद पर हल्का-सा बादल था, जिसकी ओट से वह तेजी से भाग रहा था और पीछे बिखरे हुए तारे ठीक ऐसे ही लग रहे थे जैसे नटखट बच्चे हों। मैं इस रूपक पर हंस पड़ी। बेचारा गोलमटोल

चांद लुढ़कता-पुढ़कता-सा भागा जा रहा था। तभी बदली ने तारों को छिपा लिया। चांद हंस पड़ा। फिर उसके मुंह पर किसी परी का आंचल आ पड़ा। नहीं, यह भी कोई झीनी बदली थी। अब चांद के आगे तारे थे और वह पीछे। मैंने उनसे पूछा—'अच्छा अब बताओ कि चांद कैसा लग रहा है?'

वे कुछ देर सोचकर बोले—'ऐसा कि जैसा अवगुण्ठन में तुम्हारा मुखड़ा।'

मैंने कृत्रिम मान के साथ कहा—'हटाओ, मेरा मुंह रसगुल्ले जैसा नहीं है। देखो, अब तो कुछ ऐसा लग रहा है यह चांद, जैसे आकाश-गंगा के मोतियों का रखवाला हो। और आगे बदली की ओट में सरकते हुए तारे, जो मोती चुराने आये थे, अब रखवाले को देखकर भाग रहे हैं। देखो न चौकीदार मोटूमल से दौड़ा नहीं जा रहा है।'

इस पर खूब हंसी हुई। वे तो लोटपोट हो गए और हम फिर धरती पर उतर आए। अचानक तभी मेरी निगाह पास ही की एक चट्टान पर सुध-बुध बिसारे बैठी किसी स्त्री पर पड़ी। मैंने आश्चर्य से पूछा—'इस समय यह अकेली स्त्री यहाँ क्या कर रही है?'

'प्रियतम की प्रतीक्षा!' वे बोले।

मैंने कहा—'हाँ, प्रतीक्षा का अभिशाप स्त्री के भाग्य में ही तो लिखा है।'

वे फिर बोले—'अच्छा, शायद कोई निराश वियोगिनी होगी? वियोग को असह्य पाकर स्वयं को मिटाने आई होगी यहाँ।'

मैं बोली—'यह दुर्भाग्य भी बेचारी स्त्री का ही है!'

वे बोले—'तुम्हें यह भी अच्छा नहीं लगा। सो मुझे भी क्या हुआ जो पहचान न पाया। शायद, यह मन्दिर छोड़कर यहाँ चली आई है। अवश्य ही क्षीरसागर से विष्णु का यान इसे लेने आता होगा।'

मैंने बिगड़कर कहा—'देवताओं को तो अपने उपहास से अलग रखो। ठहरो, मैं देखकर आती हूँ।'

उन्होंने नहीं रोका और मैं फौरन चल दी। पास पहुँच कर मैं अचरज से भर उठी। वह तो कृष्ण-वेणी थी। मैंने पूछा—'अरी, वेणी! तू इस समय यहाँ?'

उसने आयत नेत्रों से कुछ ऐसा कहा जो एक स्त्री के बारे में दूसरी स्त्री ही समझ सकती है। मैं उसके पास बैठ गई। प्यार से उसका कन्धा छूकर पूछा—'वह कहाँ है आजकल?'

हर वेदना को बह निकलने के लिए एक स्रोत की आवश्यकता होती है। मैंने उसे वही प्रदान किया। वह बोली—'लोग कहते हैं कि दुनियाँ में सात-समुद्र और तेरह नदियाँ हैं। वह उन सब के पार गया है।'

मैंने फिर पूछा—'क्या बहुत दूर चला गया है?'

बोली—'हाँ, जहाज में नौकरी कर ली है। अब तो वह सारी दुनिया में घूमा करता है; पर पता नहीं उसका जहाज यहाँ क्यों नहीं आता?'

मैंने पूछा—'वह कौन है?'

उसने सागर की उमड़ती लहरों को देखा, फिर दृष्टि को चट्टान पर समेटती हुई बोली—'मेरे बचपन का साथी! हम साथ ही इस रेती में खेला करते थे, साथ ही इन लहरों में नहाया करते थे। वह बड़ा साहसी था। तूफान से भी नहीं डरता था, पर मैं हमेशा उसके साहस से डरती थी।'

मैंने कहा—'फिर तुमने शादी क्यों नहीं कर ली?' उसे बताने में कुछ झिझक-सी हुई। मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया था। स्पर्श ने उसे जाने कैसा भरोसा दिया। वह बोली—'उसे यह फटे हुए

कान, जिनमें पाँबड़म कन्धों तक झूले, बड़े प्यारे लगते थे। उसने कहा था—'जब तेरे कान कन्धों को छूने लगेंगे, तो मैं तुमसे शादी कर लूंगा।' इसीलिए मैंने ब्याह से पहले ही पाँबड़म पहने। कान जल्दी लटक आयें, इसलिए मैंने रात में जाग-जाग कर इनमें वजन लटकाया। कानों से खून भी बहने लगता, पर मैं इस वेदना को भी सह लेती और अब...'वह चुप हो गई। मैं भी चुप रहकर उसके बोलने की प्रतीक्षा करने लगी। उसने स्वयं ही कहा—'और अब, जब पाँबड़म मेरे कन्धों को छूने लगे हैं, तब वह इतनी दूर चला गया है, जहाँ मेरी पुकार भी नहीं पहुँच पाती।' इतना कहते-कहते उसके आँसू उमड़ आये। वह रो ही पड़ी। तब भी समुद्र गरजता ही रहा। चाँद चमकता ही रहा। मैं भी चट्टान पर बैठी ही रही और तभी उठी जब उन्होंने देर से घबरा कर पुकार ही तो लिया।

मैंने कृष्ण-वेणी को अपनी ओर से काफी दिलासा दी, पर छूंछी दिलासा मृग-मरीचिका से अधिक कुछ भी तो नहीं होती।

अगले दिन कृष्ण-वेणी देर से आई। उसकी देर से मैं आशंकित थी, पर आई तो बड़ी खुशी थी। आते ही बोली—'बीबी जी!' और आगे कुछ कहे बिना ही आह्लाद-भाव से हंस पड़ी। मैंने कहा—'कुछ कह तो री?...क्या वह आ गया?'

'नहीं, चिट्ठी आई है। अब तो वह अंग्रेजी में लिखने लगा है। मुझे तो तमिल भी नहीं आती। तुम पढ़कर तो सुनाओ, बीबी जी!' यह कहकर उसने चोली में से मुड़ी-तुड़ी चिट्ठी निकालकर मुझे दे दी।

मैंने कुमारी-वक्ष के स्पर्श से ऊष्म उस चिट्ठी को पढ़ा। टूटी-फूटी अंग्रेजी में देश-विदेश की बहुत सी बातें लिखी थीं, जिसमें उसके बचपन के प्यार का कोई जिक्र न था। अन्त में उसने कुछ ऐसा लिखा था—'मैंने देखा और जहां-जहां देखा, वहाँ औरतों के कानों को बिना फटा

पाया। सचमुच ही फटे हुए कान तो मुझे बहुत ही भद्दे लगने लगे हैं। मैंने तय कर लिया है कि शादी के बाद तुम्हें पाँबड़म कभी नहीं पहनाऊँगा।' चिट्ठी पढ़कर मैंने दृष्टि उठाई तो सामने ही फटे कानों-वाली कृष्ण-वेणी खड़ी थी। अब मैं उसे क्या कहती। उसे कैसे बताती कि उसके प्रियतम को यह फटे कान अब न भायेंगे। मैंने उसे न बताना ही अच्छा समझा।

मैंने कहा—'वेणी! मैं पढ़ नहीं पा रही हूँ, तू चिट्ठी रख ले। जब वह आए तो उससे ही पढ़वा लेना।'

कृष्ण-वेणी ने मेरी असमर्थता पर अपने गर्व को पोषित किया। उसे लगा कि उसका सुबैय्या इतना पढ़ लिख गया है कि पढ़े लिखे लोग भी उसकी चिट्ठी नहीं पढ़ पाते।

वेणी ने उस दिन की छुट्टी ले ली। मैंने सोचा—'यह अपने चारों ओर सुख के भ्रम को बनाये रखकर अपने प्रियतम के पत्र के साथ अकेली रहना चाहती है।'

वह दिन भी बीत गया। फिर रात आई। कन्या-कुमारी की वह हमारी आखिरी रात थी। हम फिर चाँदनी में नहाते, समुद्र को देखने, फिर उसी स्थल पर पहुँचे। पहुँचते ही मेरी दृष्टि उस चट्टान पर पहुँची, जहाँ कल कृष्ण-वेणी बैठी थी। आज भी मुझे वहाँ कोई दिखाई दिया। चट्टान पर जैसे कोई शव पड़ा हो, जो बीच-बीच में अपनी मृत्यु पर रो भी उठता हो। मैंने उसे कुछ नहीं कहा। शायद आशंकित मन को कुछ कहने का अवसर ही नहीं था और मैं उस चट्टान की तरफ दौड़ चली।

पास पहुँच कर मैंने देखा—कृष्ण-वेणी ही थी। मैंने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए प्यार से कहा—'वेणी! रो क्यों रही हो? अरी, देख तो मैं हूँ!' पर वह टस से मस न हुई। मैंने जब जबरदस्ती उसका मुँह उठा-

कर देखा, तो आँखों से आँसू और कानों से रक्त बह रहा था। अब उन कानों में पाँबड़म न थे। मुझे समझते देर न लगी कि इसने किसी से पत्र पढ़वा लिया है और यह उसी की दी हुई निराशा का परिणाम है।

अब मैं उससे क्या कहती? इसके आगे मैं आपको सुनाऊँ भी क्या? पता नहीं कृष्ण-वेणी कहाँ है? कैसी है? वह लौटा भी या नहीं? जो भी हो, अगर वह जिन्दा होगी तो कन्या-कुमारी ही रह गई होगी; मर गई होगी तो समुद्र की किसी सीप में उसके प्राण जा बसे होंगे।

वीथी-जाल

बात दैत्यराज हिरण्यकश्यपु के युग की नहीं, भक्तराज प्रह्लाद के समय की है। भक्तराज प्रह्लाद प्रजावत्सल राजा थे; ऐसे कि प्रजा के सुख के लिए वे स्वयं किसी भी दुःख को धारण कर सकते थे। एक दिन की बात है, वह सहस्त्रों साधारण दिनों में से कदाचित कोई असाधारण दिन था, भक्तराज छद्मवेष में प्रजा के सुख-दुःख की कहानी जानते फिर रहे थे। राजपथ से बढ़ते-बढ़ते वे एक चतुष्पथ पर पहुँचे। चतुष्पथ से एक मार्ग रत्नवीथी की ओर गया था। वीथी में सातों समुद्रों की सम्पदा अपने जलपोतों पर वहन करने वाले उन प्रसिद्ध व्यापारियों की दुकानें थीं, जो दुर्लभ रत्नों का व्यापार करते थे। रत्नवीथी के पार्श्व में थी रूपवीथी। वहां भूलोक की सर्वसुन्दर गणिकाएं उन दुर्लभ रत्नों को अपने मादक हास से तुच्छता देती हुई रूप का विक्रय करती थीं। तीसरी थी तपवीथी। इस वीथी में भोग के ऊपर योग, संग्रह के ऊपर त्याग और 'स्व' के ऊपर 'पर' को प्रतिष्ठित करने वाले परमार्थरत्न गृही और साधक रहते थे। चौथी थी श्रमवीथी। इस वीथी में अपने श्रम से

कुरूप को रूप देने वाले, आकृति के भोंडे, पर मन के सुन्दर, ऐसे जन रहते थे जिनकी कला-विहीन अंगुलियों से जाने राजधानी की सर्वश्रेष्ठ कलाकृतियां कैसे निर्मित हुई थीं।

भक्तराज दुःखी और पीड़ितजन की खोज में सबसे पहले रत्नवीथी में गए। उन्होंने स्वर्णनिर्मित एवं मुक्ता-रत्नों से खचित मंच पर बैठ कर दुर्लभ रत्नों का व्यापार करते हुए अपने नगर-श्रेष्ठी को देख कर सोचा—'भला, इसे किस प्रकार का अभाव हो सकता है? इसके कोष में तो जैसे कल्पतरु, कामधेनु और स्पर्शमणि सभी कुछ है।' यह सोच कर वे आगे बढ़ने लगे, पर मन ने कुछ और परामर्श दिया तो वे उसकी ऊंची दुकान के चबूतरे पर हांफते से बैठ गए। नगर-श्रेष्ठी की दृष्टि उन पर गई तो उसने अपने सेवक से कहा—'दास! देख तो, यह कौन अभागा यहां आया है? यह क्या चाहता है, पूछो तो।'

दास आज्ञा पाकर छद्मवेषी भक्तराज के पास आया। उसने अहंकार को अपनी वाणी से स्फूर्जित कर कहा—'याचक! तू हमारे नगर-श्रेष्ठी के द्वार पर क्यों आया है?'

'मुझे भूख लगी है!' याचकरूपी भक्तराज ने कहा—'दो रोटियां मिलेंगी; कई दिनों से अन्न के दर्शन भी नहीं हुए।'

'मूर्ख हो!' सेवक बोला—'अरे, नगर-श्रेष्ठी के द्वार पर आकर याचना भी की तो दो रोटियों की? अरे, स्वर्ण मांगो; मुक्ता की इच्छा करो; रत्नों की भिक्षा लो!'

पर याचक प्रलोभन में न आया। उसने दो रोटियों का ही आग्रह किया और सेवक से कहा—'अपने स्वामी से जाकर कहो कि रत्नों से मेरी भूख न मिटेगी!'

नगर-श्रेष्ठी बड़ी सावधानी से सेवक-याचक-संवाद सुन रहा था। 'रत्नों से मेरी भूख न मिटेगी!' वाक्य में उसे जाने किस गम्भीर अर्थ

की उपलब्धि हुई कि वह कुछ विकल-सा हो उठा। उसने सोचा—'सच ही तो कहता है, याचक। रत्नों के अम्बार लगे हैं मेरे कोषों में, पर क्या मेरी ही तृप्ति हुई? और अधिक...और अधिक की भूख मुझे लगी है। यह याचक दो रोटियां खाकर कुछ क्षण के लिए तृप्ति का अनुभव तो कर सकेगा। पर मेरी भूख ऐसी है कि अन्न उसमें स्वाद् लगता ही नहीं।'

इसी प्रकार सोचता हुआ वह याचक के पास आया और अपने कण्ठ का बहुमूल्य मुक्ताओं का हार निकाल कर याचक की ओर बढ़ाते हुए बोला—'लो, इसे लो; रोटी मेरे पास नहीं है।'

याचक ने नगर-श्रेष्ठी के श्याम हाथ में शुभ्र मुक्ताओं के उस हार को झूलते देख कहा—'श्रेष्ठी! तुम्हारी भूख इससे मिट जाती है?'

श्रेष्ठी ने व्यंग को हास में गूढ़ कर कहा—'नहीं।'

'तो मुझे नहीं चाहिए!' याचक हटते हुए बोला—'तुम अपनी अतृप्ति को दान देना चाहते हो! मैं न लूंगा। तृप्ति दे सको, तो दो।'

नगर-श्रेष्ठी ने निराशा प्रकट की। याचक ने सोचा—'दुर्लभ रत्नों का स्वामी यह श्रेष्ठी सचमुच दुःखी है।'

भक्तराज फिर उस वीथी से लौट आए। उनसे जैसे कोई कह रहा था कि इस वीथी में प्रत्येक जन दुःखी है।

× × ×

उन्होंने अपना रूप बदला और सम्पन्न व्यक्ति के बाने में रूपवीथी में प्रविष्ट हुए। मदालसा रूपवीथी की सबसे मनोहारिणी गणिका थी। जन का विश्वास था कि वह दुर्वासा के शाप से भ्रष्ट हुई देवराज की सर्वोत्तम अप्सरा उर्वशी ही है। जैसे वह स्वयं रूप न होकर रूप का आकर्षण-केन्द्र थी। उसकी चितवन की मार से पुष्पधन्वा के धनुष की

प्रत्यंचा भी कट गिरती थी। उसकी वाणी के संगीत में नारदीय वीणा भी बेसुरी हो जाती थी। ज्वाला-सा उसका रूप अंधकार में उजाला कर देता और इसी जीवन में स्वर्ग की कामना करने वाले समस्त जन उसी की कृपा के याचक बने रहते।

गणिका की दासी ने छद्मवेषी श्रेष्ठी का स्वागत किया और उसके निर्देशानुसार स्वामिनी को जाकर सूचना दी—'स्वामिनी! वसुंधरा का सबसे बड़ा श्रेष्ठी आया है। काम्बोज से सीधा आ रहा है। कहता है, कि उसके एक सहस्त्र पोत स्वर्ण मुक्ता और मणियों से भरे पूर्व सागर के महापत्तन में रुके हैं। वह स्वामिनी की कीर्ति सुन कर तीन सौ योजन की दीर्घ-यात्रा अकेले अश्व पर तय कर यहां आया है। उसे आपके दर्शनों की अभिलाषा है।'

'आने दो!' स्वामिनी ने ईषत् मुस्कान में ही महत्दर्प को अभिव्यंजित करके कहा।

काम्बोजी ने दासी का अनुसरण करते हुए प्रवेश किया। शिष्टाचारपूर्वक आसन ग्रहण कर लेने पर मदालसा ने अलसित वाणी में पूछा—'श्रेष्ठी! तुम तो व्यापार में विश्वास करते हो। मुझसे किस वस्तु का व्यापार करने आए हो?'

श्रेष्ठी ने गूढ़ वाणी में कहा—'देवी के दर्शनाभिलाषियों को क्या यह भी बताना होगा?'

मदालसा बोली—'मुझसे कुछ पाने की आशा रखने वाले तो आज तक अपना ही सर्वस्व यहां छोड़ते गए हैं श्रेष्ठी! मुझसे व्यवसाय में तुम्हें लाभ न होगा।

श्रेष्ठी बोला—'लाभ उन अर्थों में भी हो सकता है, देवी! जो आपके स्वीकृत अर्थ न हों। आपकी बात सुन कर एक कौतूहल

हुआ। अब तक देवी सहस्रों के सर्वस्व की अधिकारिणी हो चुकी होंगी और उन अधिकारों को पाकर अवश्य ही अधिकार की इच्छा अब संन्यास भी ले चुकी होगी ?'

मदालसा ने कुछ विचलित होकर कहा—'कम्बोज के व्यापारी बड़े आलापपटु होते हैं कदाचित् !'

श्रेष्ठी ने सिर झुका कर इस प्रशंसा को स्वीकर किया और बोला—'देवी ! मैं तुम्हारे पास वह वस्तु लेने आया हूँ जो आज तक तुमने किसी को न दी हो।'

देवी चिन्तामग्न होकर सोचने लगीं कि ऐसा उसके पास क्या है जो आज भी अछूता हो।

सोचते-सोचते उनका मन मलिन पड़ने लगा। श्रेष्ठी ने उसे संकट से उबारते हुए कहा—'देवी ! ऐसी वस्तु का संधान नहीं कर पा रही हैं, कदाचित् ! आश्वस्त हों। जिस वस्तु की मैंने याचना की है, उसे मैं स्वयं जानता हूँ। वह है तृप्ति। देवी अनन्त सम्पदा मुझे तृप्ति न दे सकी। मैंने सोचा जम्बू द्वीप की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी के पास तो यह वस्तु अवश्य होगी !' इतना कह कर श्रेष्ठी ने मदालसा के उपमाहीन नेत्रों की ओर देखा। उसकी आँखों से आंसू लड़ियों में झर रहे थे, जैसे रत्नवीथी के श्रेष्ठी के हाथों में मुक्ता माला ही झूल रही हो।

'यह भी दुःखी है !' भक्तराज ने मन ही मन कहा और उसे आंसुओं की गणना के लिए अकेली छोड़ रूपवीथी से लौट आए।

× × ×

भक्तराज विकल से फिर तपवीथी में आए। इस वीथी में वही तापस परम सत्य का अन्वेषण करते हुए जी रहे थे। उनके द्वार पर

पिंजरे में बन्द शुक-सारिका भी वेदपाठ करते और उपनिषदों के गूढ़ तत्व को कुतूहली वाणी में उद्घाटित करते। भक्तराज उस वीथी में किसी का भी ध्यान आकर्षित किए बिना इधर से उधर टहलते रहे। रात्रि का प्रथम चरण था, चन्द्रोदय में विलम्ब था। द्वारस्थ दीपों से वीथी का थोड़ा-थोड़ा अंश प्रकाशित हो रहा था। सहसा भक्तराज एक द्वार पर रुक गए। घर के भीतर से परिष्कृत वाणी में मधुर वेदोच्चार हो रहा था। तभी शान्ति को भंग करता हुआ कोई नारी स्वर सुनाई दिया। स्वर अस्पष्ट था। भक्तराज न सुन सके कि क्या कहा गया। पर तत्काल वेदोच्चर बन्द हो गया और उसी स्वर में जैसे घबड़ाहट बोल उठी—'क्या कहा, हमारे पुत्र का सर्प ने दंशन कर लिया?'

स्त्री कण्ठ ने कहा—'हमारा पुत्र अब नहीं रहा!' स्वर इस बार स्पष्ट था, पर वाक्य पूरा करते-करते स्त्री रो उठी थी। वेदपाठी का स्वर कठोर हो उठा। उसने आक्रोश भर कर कहा—'माया! रो मत। मेरा पुत्र जीवित न हुआ तो मैं नागकुल को ही नष्ट कर दूंगा। वासुकी और शेषनाग भी मेरे शाप से न बचेंगे। मेरे सुख का दंशन करने वाला नाग किधर है?'

'ईश्वर की कैसी अद्भुत लीला है!' भक्तराज के मुख से निकला। वे धीरे-धीरे उस वीथी से बाहर आने लगे। अब उन्हें लग रहा था कि नगर-श्रेष्ठी के हाथ में मुक्ताओं की अश्रु-माला नहीं, काला नाग झूल रहा है। और वे सोचने लगे—'परमार्थ-जीवी का सुख भी कितना क्षण-भंगुर है? एक सर्प का दंशन उसे नष्ट कर सकता है। ये भी दुःखी हैं, यह सब भी पीडित हैं।'

× × ×

इस कांड से भक्तराज का मन दुःखी हो उठा था। सामने श्रमवीथी अन्धकार के आलिंगन में दिवस की थकान मिटा रही थी। उनकी

इच्छा हुई कि उधर न जाकर राजभवन की ओर चल दें, पर तभी उस ओर कुछ भगदड़-सी मची और साथ ही कोलाहल सुनाई दिया। भक्तराज के पैर भी उसी दिशा में बढ़े। साधारण संकुचित और मलिन घरों से भी वह वीथी सूचित कर रही थी कि इस लोक की कृपण सम्पदाओं ने उन पर अनुग्रह नहीं किया है। कोलाहल और बढ़ा। भक्तराज ने घटना स्थल पर जाकर पूछा—'क्या है ? किस पर प्रहार कर रहे हो ?'

उनकी ओर देखे बिना ही किसी ने कहा—'चोर है ! चोर है !! दुष्ट को मारो; खाल उधेड़ डालो !'

'चोर ! इस वीथी में भी चोर ? मेरे राज्य में भी चोर ?' महाराज ऐसी आत्मग्लानि से भर उठे जैसे वे स्वयं ही चोर हों। उन्होंने किसी तरह भीड़ को समझाया कि चोर को किसी राजपुरुष के हवाले कर दें और स्वयं उस वीथी में यह सोचते हुए टहलने लगे कि चोरों का भय यहां भी है। कहीं जीवन के चोर ? धन के चोर ? जहां जीवन की लिप्सा नहीं, वहां जीवन के चोर। जहां धन का संचय नहीं, वहां धन के चोर। और उसी वीथी में घूमते हुए उन्होंने सुना, एक कंगाल-वधू कह रही थी—'आज रात भर हम दोनों बारी-बारी से जाग कर पहरा देंगे। ऐसा न हो कि कोई चोर...'

गृहपति ने उपेक्षा से कहा—'हमारे पास चोर के लिए रखा ही क्या है ?'

'क्यों नहीं रखा !' गृहिणी ने कहा—'हमारे ये चिथड़े ही हमारा सर्वस्व हैं। हमारे इन इन फूटे बर्त्तनों और काम के औजारों को ही कोई ले गया तो हम क्या करेंगे ?'

'हां, ठीक तो कहती हो।' गृहपति ने मान लिया।

'ठीक कहते हैं।' भक्तराज ने भी स्वीकार करना चाहा—'इस धरती पर दुख इतना अधिक है कि स्वर्ग भी उसे मिटाने में नरक हो जायगा।' पर इन सब कुछ से परे भी किसी सुख की सत्ता में उनका विश्वास दृढ़ था।

× × ×

सोचते हुए भक्तराज श्रमवीथी से राजभवन की ओर बढ़ चले। उनके मन में प्रश्न उठा—'यदि इस धरती पर इतना दुःख है तो सभी जन एक ही साथ आत्महत्या क्यों नहीं कर लेते?'

भक्तराज के चिन्तन में तभी व्याघात हुआ। राह में पड़ा एक कोढ़ी दीन स्वर में पुकार कर कह रहा था—'दाता! कोढ़ी को दान दो, कल्याण होगा। दाता! अपाहिज को दान दो, तेरा कोष बढ़ेगा।'

'कोढ़ी!' भक्तराज ने देखा। घिनौना। मक्खियों का अड्डा। दुर्गंध का घर। अस्पृश्य! मेरे राज्य में यह भी और यह भी जीवन को अवलम्ब देने के लिए भीख मांग रहा है।

भक्तराज मर्माहत से खड़े रहे। क्षण भर चुप रह कर बोले—'मेरे पास विष है; लोगे?'

'विष?' कोढ़ी पहले कांपा, जैसे मृत्यु ने ही यह सुझाव दिया हो। फिर उस सम्पन्न पुरुष को सामने देखकर कठोर होकर बोला—'यह विष अपने ही पास रक्खो, जब हमारे जैसे जीवन को सह न पाओगे, तो यह तुम्हारा ही उपकार करेगा।'

भक्तराज ने जैसे उसका व्यंग्य सुना ही नहीं। कोमल वाणी में बोले—'भाई! एक बात तो बताओ कि तुम यह नारकीय जीवन किस आशा में जी रहे हो। तुम्हें इस तरह जी कर कौन सा सुख मिला रहा है?'

'सुख !' कोढ़ी बोला उसके स्वर में उपहास लगता था—'सुख को जैसे तुमने पा लिया हो ! तुम स्वयं नहीं पा सके तो संभवतः किसी सुखी के दर्शन कर आए हो ! मुझे भी उस सुखी के दर्शन करो दो ! जिस क्षण उस एक सुखी को देख लूंगा, उसी क्षण तुमसे विष की याचना कर लूंगा ।'

भक्तराज उसकी इस बात से विचलित हो उठे । जिस सत्य को देख कर भी स्वीकार न कर सके थे, उसी सत्य को वह कोढ़ी उनके सम्मुख उद्घाटित कर रहा था और उसी क्षण उन्होंने यह अनुभव किया कि विश्व में सब से दुःखी वे स्वयं हैं, क्योंकि उनके सुख की खोज अब भी तो पूरी नहीं हो पाई ।

दर्पण की कारा

मेरे पिता को उस नये जिले में बदल कर आये कुछ ही मास बीते थे। था तो वह जिला, पर उजाड़ बस्तियों से भी अधिक वीराना। सिविल लाइन्स में हम लोग रहते थे। कच्ची सड़कें, सुनसान बंगले, ऊँचे पेड़ और आसमान, यही यहां की विशेषता थी। मुझे वह वातावरण बहुत प्यारा लगा। जेल की कल्पना भी बुरी है। हमारे बंगले के पास, मतलब कि दो चार फर्लांग के फासले पर ही जिला जेल थी। वहाँ घंटे पर घड़ियाल बजा करता और हर चार घंटे पर गजर। जैसे घड़ियाल समय की अक्षुण्णधारा में विराम, अर्द्ध विराम लगाने की चेष्टा करता रहता हो। बंगले में भी मैंने छांट कर एक छोटा सा कमरा अपने लिये पसन्द कर लिया। खिड़कियों से मेरी दृष्टि बाहर दूर-दूर तक उड़ जाया करती और ऊँचे-ऊँचे पेड़ों पर विश्राम करने के बाद कमरे में लौट आया करती। तब मुझे कविता लिखने की जैसे सहज प्रेरणा मिलने लगती। तभी अगर घड़ियाल बज उठता तो मैं व्यस्त-सी उठती। वह मुझे बताता कि समय बीत रहा है, कुछ करना चाहिए। जेल

के कैदी जब घड़ियाल की आवाज सुनते होंगे तो उन्हें निराली खुशी होती होगी। वे यही सोचते होंगे कि चलो बंधन का एक घंटा और बीता।

मैंने जाने यह सब क्यों कहा। मेरी असली कहानी तो अब शुरू होती है, पर कहानी कहना भी मुझे अच्छा नहीं लगता। वह तो एक सच्ची बात है। उस बंगले के सुनसान की तरह सच! जेल के गजर की तरह सच!

जब मैं पहले ही दिन अपने उस कमरे के खिड़की-दरवाजे खोल कुछ लिखने-पढ़ने के इरादे से वहाँ बैठी तो चिड़ियों की चहचहाहट ने मेरा ध्यान आकृष्ट किया। एक ऊँचे चौड़े तख्त पर मैंने अपना आसन बना रखा था और उस पर रखी हुई छोटी चौकी लिखने-पढ़ने में आधार का काम देती। लिखने-पढ़ने के वक्त शोरगुल से मुझे नफरत है, पर उस चहचहाहट से तो नफरत को भी शायद नफरत नहीं हो सकती। मैं ईषत् हास्य के साथ उन चिड़ियों को देखने लगी। एक थी बनैली चिड़िया और दूसरा बनैला चिड़ा। वे फुदक कर एक दूसरे को मोह रहे थे। कभी चंचुओं के प्रहार कर प्रेम-प्रदर्शन करते तो कभी पंख फड़फड़ाकर। मेरी बड़ी इच्छा होती कि मैं उनकी भाषा समझ पाती। और जब वे निरन्तर वहां आने लगे तो मेरी दिलचस्पी भी उनमें बढ़ गई। मुझे लगता कि जैसे वे मेरे लिये ही वहां आते हैं। जब उन्हें आने में देर होती तो मैं अनायास ही प्रतीक्षा किया करती।

धीरे-धीरे उन्होंने भी मुझसे आत्मीयता स्थापित कर ली थी। मेरे सिर पर ही बिजली का छत-पंखा था। गर्मी अभी पड़नी शुरू ही हुई थी, अतएव मैं उसे बहुत कम चलाती थी। इधर उन्होंने उसे भी क्रीड़ा का स्थान बना लिया। उसकी पंखुड़ियों पर वे फुदका करते।

जब वह उनसे ही किसी साधारण से धक्के से कुछ हल्के से घूम जाता तो किसी अनजाने सुख का अनुभव करते हुए अपने कोमल पंखों से लोहे की उन कठोर पंखुड़ियों को छेड़ने लगते।

पंखे के अलावा एक और आकर्षण था उनके लिये इस कमरे में। वह था शृंगारदान में लगा दर्पण। दर्पण के सामने पहुँच कर क्रीड़ा में उन्हें जैसे विशेष सुख मिलता। वे दर्पण के भीतर अपने जैसा ही युग्म पाकर अजीब आनन्द से भर उठते। कई बार उन्होंने उस दर्पण को बेध कर उसके भीतर के युग्म तक पहुँचने की चेष्टा की, पर सफल कभी न हुए।

कमरे में किताबें थीं। चित्र भी थे। कुछ और भी कमरे को सुसज्जित करने वाली चीजें थीं। एक बड़ा प्यारा-सा फूलदान भी था, जिसमें खूबसूरत ताजे फूल सदा मुसकराते रहते। दर्पण के बाद उन्हें शायद यही फूलदान पसन्द था, पर तरह-तरह के फूलों को स्वाभाविक ढंग से सजाने की रीति शायद उन्हें पसन्द न थी।

इसलिए वे बड़ी जल्दी उस फूलदान से ऊब जाते। बस दो-चार फूलों को छितरा कर, पत्तियों को क्षत करके, वे उससे उपराम हो जाते। मुझे उनकी वह शैतानी बड़ी प्यारी लगती। यद्यपि फूल मुझे बड़े प्यारे हैं और मैं उन्हें अपनी वेणी में धारण करके फूल ही उठती हूँ, पर उनके दो पंखवाले नन्हें-मुन्नों की क्रीड़ा में मैं फूलों का ध्वंस भी सह लेती।

जब मैं उनके आने पर भी चौकी पर कुहनियाँ टेक कर पढ़ने को झुक जाती या लिखने लगती तो वे फुदक कर मेरे पास आ जाते। उस चौकी पर ही फुदकते हुए मेरा ध्यान आकृष्ट करते और परस्पर भी जैसे कुछ बातें करते। मुझसे उन्हें कतई भय नहीं लगा और मैं अनुभव करती कि वे मेरे बारे में भी अक्सर बातें करते हैं। एक बार

मैंने उनकी बातों को समझने की चेष्टा की और उनके हाव-भाव से जो अर्थ लगाया वह अच्छा मनोरंजक है।

चिड़िया ने कहा—'यह लड़की पागल है। यह इस चौकी पर झुकी झुकी क्यों इन कागजों में दिमाग खपाया करती है।'

चिड़ा बोला—'लगता तो मुझे भी कुछ ऐसा ही है कि यह सनक गयी है। देखो न इनके बगीचे में कितने सुन्दर फूल, हरे-भरे ऊँचे पेड़ और दूब से भरा मैदान है। जाने इसका मन क्यों नहीं करता कि यह भी हमारे साथ उन ऊँचे पेड़ों पर जाकर रहे?'

उनके इस संवाद पर मैं उस दिन हंस पड़ी थी। मैंने भी उनसे कह दिया था—'मेरे प्यारों! मेरे पास पंख नहीं। मैं तुम्हारे पेड़ों पर जाकर नीड़ नहीं बना सकती। फिर भी कल्पना के पंखों के सहारे मैं दूर-दूर तक उड़ जाया करती हूँ। लो, सुनो मेरी एक कविता। इसमें मैं कल्पना के सहारे इस पृथ्वी से दूर, क्षितिज से भी परे, अन्तरिक्ष से भी पार, स्वर्ग से भी आगे, जाने कहां पहुँच गयी हूँ।'

बस, मैं कविता गुनगुनाने लगी थी, पर उन्हें वह कविता पसन्द नहीं आयी। उड़कर वहां से चले गये। जाकर पंखे को हिलाया पहले। फिर दर्पण में ठोंगें मारीं। थोड़ी देर फूलदान को नोचा। फिर फुर्र से जाने दोनों के दोनों उड़ कर किस ऊँचे पेड़ पर सुस्ताने लगे।

मुझे उनका इस तरह उड़ जाना बुरा लगा। मन में आया कि किसी ने ठीक ही कहा है—'अरसिकेषु कवित्व निवेदनम् शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।'

शायद मैं अपनी आलोचना से भी कुछ नाराज हो गयी थी। मैंने सोचा अब मैं अपनी खिड़कियां बन्द रखूंगी। ये नटखट चिड़ियां मुझे पढ़ने भी नहीं देती और मैं उनसे रूठ गयी। इस रूठने में कितनी आत्मीयता थी, मैं ही जानती हूँ।

अगले दिन जब ठीक समय से मेरे चहुले अतिथि आये तो द्वार बन्द पाकर बड़े पीड़ित हुए। खिड़की के शीशों पर वे ठोंगें मार कर प्रहार करने लगे। उन्हें यह अच्छा नहीं लगा कि जहाँ क्रीड़ा करते-करते इतने दिन हो गये वहाँ अचानक ही उन्हें जाने से रोक दें। मैं सोचती थी कि वे रास्ता न पाकर जल्दी ही लौट जाएंगे। जब न लौटे तो मैंने तरस खाकर खिड़की खोल दी। वे फुर्र से मेरे केशों से उलझते हुये कमरे में घुस आये। मैंने मुसकराकर कहा—'तो अब कभी मेरी बुराई न करना।'

पर उस दिन उन्होंने एक और शैतानी की। मुझे थोड़ी सी चित्रकला में भी रुचि है। उस दिन मैंने कुछ रंग घोलघाल कर रखे थे। फलक पर कुछ रेखाएं भी उभार लीं थीं। वे दोनों आकर पहले तो चौकी पर बैठे और फिर वहीं से उस अधूरे चित्र को देखते रहे। उन्हें वह पसन्द नहीं आया। उन्होंने चट से रंग से अपने पंजों, चोंच और पंखों को भरा और स्वयं चित्रकारी में व्यस्त हो गये। इस पर मैं गुस्सा सम्हाल न सकी। मेरे हाथ में रंगों भरी तूलिका थी। मैंने उसे उन पर दे मारी। तूलिका किसी के लगी तो नहीं, पर वे दोनों फुर्र से उड़ गये। मैं खुली खिड़की से बाहर देखती रही कि वे उड़े ही जा रहे थे।

उस दिन फिर न लौटे, पर जब अगले दिन भी नहीं लौटे तो मुझे चिन्ता हुई। शायद बुरा मान गये हैं। थोड़ी देर तक मैंने उनकी प्रतीक्षा की, फिर बाद में अपने काम में लग गयी। वह दिन बीत गया। अगला दिन भी बीत गया। वे आज भी न लौटे थे। मुझे अब उनका न आना अखर रहा था।

पर इस बार मुझे विश्वास था कि वे दूर कभी नहीं जाएंगे, अवश्य आएंगे। बस, मैं आश्वस्त-सी होकर तख्त पर मोटे तकिये के सहारे

लेट गई। धीरे-धीरे गुनगुनाती रही। थोड़ी ही देर में प्रियदर्शन विहगों का आविर्भाव हुआ और मैं उत्साह से भर कर जोर से गाने लगी। वे और निकट चले आये। मैं गाती रही। वे आकर चौकी पर बैठ गये। मैं गाती रही और कितनी ही देर तक गाती रही। तभी जेल से घड़ियाल चिल्लाया। उसे शायद गाना पसन्द न था, उसे अपनी आवाज के बाद शायद हथकड़ियों-बेड़ियों की आवाज ही पसन्द थी। मैं भी चौंक कर चुप-सी हो गई। लगा समय तेजी से भाग रहा है।

तभी चिड़े ने चिड़ी से कहा—'यह लड़की बड़ी बेवकूफ है। घड़ियाल की आवाज से डर जाती है। वक्त बीत जाता है तो क्या जाता है! वक्त बिताना तो एक बहुत बड़ी कला है।'

चिड़ी ने कहा—'चलो, हम भी चलें अब! इसे काम करने दें।'

चिड़े ने विरोध किया—'नहीं, इसे ऐसे नहीं छोड़ कर जाना चाहिए! मुझे, यह चाहे बुरी ही हो, अच्छी लगती है। देखो, वैसे यह कितनी सुन्दर है!'

चिड़ी को बुरा लगा। चिड़ा उसे छोड़कर किसी और को सुन्दर कहे यह उसे गवारा न था। फिर भी वह कहता गया—'यह परी देश की है। फूलों की राजकुमारी है।'

मुझ पर उसकी प्रशंसा का नशा-सा होने लगा। मैं मुग्ध-भाव से पड़ी-पड़ी सुनती रही। चिड़ी को बुरा लगा। उसने चिड़े पर चोंच से प्रहार किया और दोनों बाहर को उड़ चले। मैं उठ कर शिथिल भाव से दर्पण के सामने आई। मैंने दर्पण से पूछा—'बताओ, प्रियदर्शी! तुम्हीं बताओ। मैं कितनी सुन्दर हूँ?'

दर्पण ने शोभा की रेखाओं में मेरी जो प्रशंसा की उससे मैं तिलोत्तमा के रूप-गर्व से भर उठी। उस गर्व की अनुभूति में जाने कितना

समय बीत गया। मैं फिर तख्त पर आकर लेट गयी थी। घड़ियाल फिर बोला। इस बार जैसे उसने कर्कश स्वर में कहा हो—'पगली, लड़की! शीशे की की बात पर फूल उठी। इस चापलूस ने भी भला आज तक किसी को कुरूप कहा?'

मैं झुंझला कर उठ बैठी। खाने का वक्त हो गया था।

इसी तरह कुछ दिन और बीत गये। उस दिन अचानक ही गर्मी बढ़ चली थी। मैं अपने उसी कमरे में थी। मैंने आते ही छत का पंखा चलाया, पूरे वेग से चलाया और उसके नीचे बैठकर सहज भाव से पढ़ने लगी। तभी वह चिड़ी अपने प्रियतम चिड़े के साथ आई। दोनों ने कुछ देर तक मुझे देखा। फिर चिड़ी ने पूछा, अपने प्रियतम से—'एक बात तो बताओ, प्यारे! क्या सचमुच ही यह लड़की तुम्हें मुझसे सुन्दर लगती है?'

चिड़े ने अपनी प्रियतमा चिड़ी को पंखों के परिरम्भ में भर कर कहा—'कैसी भोली हो, तुमसे सुन्दर भी भला इस विश्व में कुछ है? चाँद भी तुम्हारे सो जाने पर उगता है। दिन भर लज्जा के मारे मुँह छिपाये फिरता है!'

चिड़ी कृतार्थ होकर बोली—'आ, मेरे प्यारे! तेरी इन मीठी बातों पर मैं कुर्बान हो जाऊँ।'

चिड़े ने उमंग भर कर कहा—'मरने की बात न किया करो। तुम जिओ और मुझे जिलाओ!'

इस पर चिड़ी मस्त-मयूरी सी नाच उठी। वह उस कमरे के छोटे से आकाश में इधर से उधर उड़ने लगी। तेजी से घूमते हुये पंखे से भी अधिक तेज उसके आनन्द के आवर्त थे। उन आवर्तों में वह ऐसी बेसुध हुई कि पंखे से जा टकराई और दूसरे ही क्षण मेरे सामने जमीन

पर कट कर आ गिरी। उसने दो-चार टूटती हुई सांसें लीं और जब तक कि चिड़ा कुछ समझे, जाने किस वृक्ष पर नीड़ बनाने चली गई। तभी जेल का घंटा फिर बजा। जैसे कह रहा हो—'जानें क्यों, मेरी कोई कुछ सुनता ही नहीं। यह काल सबको खा जाएगा! यह काल सबको खा जाएगा!!' और गजर 'सावधान, सावधान, मौत आ रही है! काल का रथ यात्रा पर है!!' कहता-सा चीखने लगा।

सुनती हूँ आज तो एक एटम बम हजारों लाखों की जानें यूँ ही ले लेता है, हाईड्रोजन बम तो सुनती हूँ और भी विघातक है, पर उन जान लेने वालों की जान कैसी है? मैं तो एक चिड़ी की जान लेकर अपराधी हो गई थी। पंखा चलाना ही मेरा अपराध था। इस आसमान में क्या थोड़ी हवा भरी हुई है जो मैं नकली हवा के लिये बेताब हो उठी थी।

मैं अपनी वेदना को क्या कहूँ। वेदना तो उस चिड़े की है जो कोई समझ सके। वह अकेला रह गया था। वह बाद में भी आया करता। अकेला ही आया करता। अपनी संगिनी को ढूढ़ने आया करता। वह खिड़की में बैठता, फूलदान पर भी बैठता, पर फूलों को न बिखराता, बिजली के पंखे पर रात में बैठता, जिसे अब मैं कभी न चलाती और फिर चौकी पर बैठ कर मेरी ओर देखने लगता, पर मैं उसे सुन्दर न लगती और तब वह दर्पण में जाकर कुछ देखने लगता। अब उसके भीतर भी एक ही चिड़िया रह गई थी। वह उस तक पहुँच जाना चाहता था। उसे लगता वही उसकी चिड़िया है। वह दर्पण की कारा को अपनी चोंच से तोड़ डालना चाहता, पर कठोर दर्पण न टूटता, उल्टे उसका दिल टूटता रहता और वह बौराया-सा चिड़ा अपने परिश्रम से कभी न बाज आता। वह अब चुगने की तलाश में बाहर जाता तो जाता, अन्यथा वहीं रहता। उसने कुछ घास-फूस

लाकर शृंगारदान में ही एक तरफ को अपना घोंसला बना लिया। बस, वह अधिकतर दर्पण में झाँका करता, उस पर चोंच के प्रहार करता, उसके अन्दर प्रवेश पाने को आतुर रहता; पर वह दर्पण की कारा उसके लिये वज्र बनी रही।

कई बार दुःख से अभिभूत होकर सोचा करती कि मैं चिड़िया क्यों नहीं हुई। काश, मैं चिड़िया बन सकती और उसके हाहाकार का निदान कर सकती!

चाँद खो गया

युगों पुरानी यह कथा है। नहीं, अनादि काल से चल रही यह कथा है। आज भी यह कथा अधूरी है और अनन्तकाल तक अधूरी रहेगी। ऐसी सनातन और फिर भी अपूर्ण कथा का आरम्भ क्या हो, अन्त क्या हो, क्या कथाकार को भी पता है।

यह कथा मैंने विराट से सुनी है। जैसी सुनी है, वैसी ही सुनाऊंगी। विराट को तो तुम जानते हो। वह वही है जिसमें सब कुछ समाहित है, जिससे अज्ञात कुछ नहीं, जिसके बिना भी कुछ नहीं है।

तो क्या यह विराट की ही कथा है? सुन लो! श्रोता में धीरज होना चाहिए। बिना इसके कुछ सुनने में नहीं आता। कहानी आरम्भ होती है।

दो आलोक पुरुष थे। एक का नाम था चांद और दूसरे का नाम था सूरज। चार थीं स्त्रियां—दिवा, निशा, उषा और संध्या। ये सब एक वय की थीं, पर रूप-गुण में अलग-अलग। दिवा और उषा को

सूरज से प्यार था और संध्या और निशा को चांद से। यह प्यार न होता तो यह कहानी भी न बनती। तो क्या यह प्रेम-कथा है ? मैं कहती हूँ सुनते जाओ ! जो है वह सामने आएगी ही।

कहानी उषा के एक अभियोग से शुरू होती है। उषा का सूरज से यह प्रथम परिचय था। जब निशा ने अपनी श्यामल अलकें समेट लीं तो क्षितिज पर बैठी उषा ने देखा कि प्राची के गर्भ से एक तेजस्वी पुरुष का उदय हुआ। अनोखी कान्ति थी उस पुरुष की। अनुराग का जैसे पुंज हो। उषा उसे देखते ही उमग उठी। पूछा—'तुम कौन हो, कान्तिमान् ?'

पुरुष ने उत्तर दिया—'मैं पूषा हूँ।'

उषा चमत्कृत होकर बोली—'तुम पूषा ! तुम ही हो वह पूषा ? मैंने तुम्हारे बारे में सुन रखा है।'

पुरुष—'किससे ?'

उषा—'निशा से•!'

पुरुष स्निग्ध भाव से मुस्कराया—'क्या सुना है उससे तुमने ?'

उषा—'तुम उसके सौभाग्य के शत्रु हो। तुम जाने कब से उसकी सुख-रजनी से छल करते आए हो।'

पूषा—'तब तो सुन्दर परिचय रहा !'

उषा—'पर दर्शन में तुम अतिशय मनोहर हो। मुझे निशा के आरोप पर विश्वास नहीं होता। तुम अनुरागमय पूषा ! तुम भला किस से छल करोगे ?'

पूषा मुस्कुराया। उसके स्मित की आभा दिशाओं को ज्योतित करने लगी। पूषा के प्रश्न की अपेक्षा किये बिना ही उषा ने कहना शुरू किया—'मैं उषा हूँ; रागमय ! क्षितिज पर एकाकी बैठी मैं विचलित-सी

हो रही थी। समझ में न आ रहा था कि मैं एकाकी कैसे कालयापन करूंगी; पर अब मैं चिन्तामुक्त हुई। मुझे मेरा सहचर मिल गया।'

कहते-कहते उषा का मुख मंडल लाज की सुषमा से अत्यन्त रुचिकर हो उठा। पूषा अब भी मौन था, पर इस बार उसका हास कुछ अधिक विकसित हुआ, प्रभा के पुंज जैसे विकीर्ण होने लगे। दिगन्तगामी अन्धकार को जैसे छिपने के लिए स्थान ही न रहा।

उषा उस तेज को न सह कर भी कहती गई—'पूषा! तुम प्रिय-दर्शन हो! तुम मेरे वरेण्य हो! आओ, मेरी इन उलझी हुई लटों को तुम अपने किरणकरों से सुलझा जाओ। देखो, मेरी ये सुनहरी लटें अपने सौभाग्य-पुरुष के स्पर्श के लिए कितनी चंचल हैं!'

पूषा ने अट्टहास किया, जैसे तेज का अजस्र ओघ फूट पड़ा। नभ धरा का अन्तर प्रकाश-पूरित हो उठा। पूषा के मुख पर दृष्टि स्थिर रखना उषा के लिए भी साध्य नहीं रहा। तभी पूषा ने कहा—'अनुरागमयी, उषा! जाओ, तुम क्षितिज के किसी कक्ष में ही विश्राम करो। तुम क्षणिक यौवन लेकर मुझसे अनुराग करने चली थीं। देखो, तुम्हारी स्वर्णिम अलकें अब कहां हैं? उषा! तुम वृद्धा हुईं।'

और वृद्धा उषा जैसे श्वेत केशों में सिमट कर प्रकाश में ही अंतर्हित हो गई। प्रखर-तेज पूषा क्षितिज का छोर छोड़ आगे बढ़ चला। सहसा किसी के स्वर ने उसे रोका—'ठहरो, प्रकाशमय! ठहरो! युगों का घनीभूत अंधकार तिरोहित करते हुए तुम आए, और अब भी इतनी त्वरा? घड़ी भर तो मेरे अतिथि बनो, शुभ्रवेशी!'

पर शुभ्रवेशी की त्वरा न शान्त हुई। वह नारी-स्वर फिर बोला—'ओ, शून्य-पथ के पथिक! बिना परिचय के ही मत चले जाओ। देखो, मैं दिवा हूं; महाश्वेता दिवा! मैं जिस पुरुष के स्वप्न देखा

करती थी, वह तुम हो। हां, तुम्हीं हो। बोलो, मेरे स्वप्न-पुरुष! मैं तुम्हें क्या कह कर संबोधित करूं?'

पूषा ने कहा—'दिवाकर!'

दिवा उल्लसित हो उठी—'ओ, दिवाकर! तुम! सच, तुम! ओः, तुम्हारी ही प्रतीक्षा थी मुझे!'

दिवाकर बोला—'अप्रतीक्षित की प्रतीक्षा कैसी दिवा?'

दिवा—'वाक्-छल न करो, शुभ-दर्शन! देखो, अभी मैंने तुम्हारे आगमन की दिशा में ही उषा का करुण-क्रन्दन सुना था। कोई देव-रूप पूषा उससे छल कर गया। पर मेरे मनोहर-रूप! तुम मुझसे छल न कर सकोगे। अब तुम उदभ्रान्त से न भटकोगे।'

दिवाकर—'पर मैं विश्व-यात्रा पर निकला हूँ, दिवा! कैसे अपनी गति को बाधा दूँ?'

दिवा—'तुम्हारी गति को बाधा मैं दूँगी। मेरे भुज-बंधन तुम्हारी गति की शृङ्खला बनेंगे। दिवा का समर्पण अस्वीकार करके तुम न जा सकोगे। देखो, मेरे अन्तर में भयङ्कर दाह है।'

दिवाकर—'दाह है, और उस दाह को लेकर तुम स्थिरता चाहती हो? पर मैं तो अपने दाह के कारण ही अस्थिर रहता हूँ। मुझे जाने दो। प्रतीची के उदधि-तीर्थ में स्नान किये बिना मैं क्षण भर कहीं नहीं रुक सकता।'

दिवाकर का अन्तर्हित दाह जैसे प्रखर किरणों के स्रोतों में फूट पड़ा। दिशाएँ उत्तप्त हो उठीं, शून्य भी संतप्त हो उठा, पर दिवा मार्ग की बाधा बनी ही रही। तब असहिष्णु दिवाकर बोला—'तुम दाह से दाह शान्त करना चाहती हो, दिवा?'

दिवा—'नहीं जानती, दिवाकर! तुम दाह किसे कहते हो? मैं

अप्राप्ति के दाह को प्राप्ति की शीतलता से मिटाना चाहती हूँ। तुम मेरी प्रथम और अन्तिम कामना हो !'

दिवाकर—'पर दिवा ! जो विकारशील है, उसकी कामना कब और कैसे प्रथम और अन्तिम हो सकती है ? मुझे विकारशील रूप-यौवन से प्रीति नहीं।'

दिवा—'तुम सहज परिवर्तन को विकार कहते हो, दिवाकर !'

दिवाकर—'मैं अस्थिरता को विकार कहता हूँ, दिवा ! तुम्हारा जीवन-यौवन ही दो घड़ी का है। दिवाकर उस सीमा में बँध नहीं सकता !'

दिवा—'आः, निठुर दिवाकर ! तुम सीमा का सुख क्या जानो ? तुम भटकने में ही विश्वास करते हो। तुमने कभी किसी को समर्पण किया होता तो दिवा के समर्पण और सीमा का सुख भी जानते। जाओ, असीम के यात्री ! जाओ; जब तुम्हें कहीं सुख न मिले तो दिवा की भुज-सीमा याद करना !'

दिवाकर बढ़ता गया। दिवा मलिन पड़ती गयी। दिशाओं का ताप कम हुआ, प्रकाश की प्रखरता मिट चली और प्रतीची में एक मनोहर सुन्दरी ने अलसाए से नेत्र खोले। उसका मुख उषा को भी लजा रहा था। रजनी की जैसी कबरी, कुछ-कुछ श्लथ, कुछ-कुछ मुक्त-सी फैली थी। नेत्रों में नील मेघों की छाया थी। क्लांति और शान्ति के मिलन में जो छवि हो सकती है, वही छवि उसके मुख पर थी। पश्चिम उदधि के तट पर खड़े क्लान्त-श्रांत दिवाकर ने उसे देखा। उस सुन्दरी की दृष्टि ही जैसे विश्रांति का मन्दिर थी। दिवाकर को लगा जैसे उसे इसी की खोज थी। अपने दाह को समेट कर अरुण मुख होकर अनुराग-पूर्ण वाणी में बोला—'सुन्दरी ! तुम कौन ?'

उत्तर मिला—'मैं न दिवा हूँ, न निशा !'

दिवाकर—'यह तो अनोखा परिचय है।'

स्त्री—'अनोखा ही सही। कर्म मेरे पास तक आते-आते थक जाता है। मैं उसे विश्रांति दूँ कि निशा की गोद में चला जाता है। मुझे लगता है जैसे मैं दिवा-निशा की संधि-मात्र हूँ। इसी से मेरा नाम संध्या है।'

दिवाकर ने उमग कर कहा—'तुम संध्या! तुम हो सांध्य-सुन्दरी! तुम्हीं तो थीं मेरी इस विश्व-यात्रा की उद्देश्य। तुम्हें पाकर मेरा मनोरथ सिद्ध हुआ।'

संध्या ने उदास वाणी में कहा—'मुझे पाकर? मुझे तो कोई नहीं पा सकता। मैं तो पाने और खोने के बीच का जैसे एक क्षणमात्र हूँ। तुम कौन हो, सुभग! जो मुझे पाने को लालायित हो उठे?'

दिवाकर ने कहा—'मैं सविता हूँ, देवी!'

संध्या—'सविता!'

दिवाकर—'इस नाम में क्या अचरज, है सुन्दरी?'

संध्या—'अचरज! मेरा तो अचरज से परिचय ही नहीं। मैंने इतना अवश्य सुना है कि कोई अमित तेजधारी दिगंगनाओं को लुभाता हुआ विचरण कर रहा है। उषा को उसने पूषा बन कर मोहित किया और दिवा को दिवाकर बन कर। अब जाने वह किस नये नाम से किस तृतीय को मोहित करना चाहता है।'

सविता—'अब तो वह स्वयं संध्या पर मोहित हो गया है, देवि! संध्या मुझे अपने आलिंगन में विश्रांति दो।'

संध्या—'दूसरों की विश्रांति छलने वाले! तुम्हें भी विश्रांति की चाह हो उठी? पर दुर्भाग्य तुम्हारा! संध्या छाया से अधिक कुछ नहीं। अपने जिस प्रिय को देख कर मैं जीवन पाती हूँ, वह प्रियदर्शी सोम है।

जाओ, सविता ! अब जाओ। अब तुम्हारा दाह उदधि की तरंगें शान्त करेंगी। मेरा सोम आ रहा है।'

पश्चिम सागर में डूबते हुए सविता ने ईर्ष्या से जल कर अमृत देह सोम को देखा। उसकी स्निग्ध शान्ति में संध्या जैसे और भी मनोहर हो उठी। निशा अपने प्रिय चन्द्र का पथ आलोकित करने के लिये जैसे तारक दीप जला रही थी। मनोहारिणी संध्या को देख कर सोम ने कहा—'संध्या ! यह लो मैं तुम्हारा सोम !'

संध्या चुप रही।

सोम बोला—'मौन क्यों हो, प्रिये ! जिस सोम के लिये तुम सविता का भी तिरस्कार कर डालती हो, उस सोम के आने पर तुम्हारा उल्लास क्यों अस्त हो जाता है ?'

संध्या बोली—'प्रिय सोम ! संध्या—विरागिनी संध्या—उल्लास के नाम भर से परिचित है, उसके भोग से नहीं। तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा मैं अवश्य ही उल्लास से भर कर करती हूँ, पर जब मेरी प्रतीक्षा पूरी हो जाती है तो मेरा उल्लास भी जैसे अन्त लेता है। सोम ! मैं तो केवल प्रतीक्षा में ही पूर्ण हूँ। जाओ, प्रिय ! जाओ। मैं तो निशारानी के द्वार की जैसे रखवाली भर करती हूँ। तुम्हारे दर्शन ही मुझे तृप्ति दे देते हैं।'

तभी तारालोकित निशा के आगमन की सूचना मिली। संध्या तिरोहित हो गई। नीलाम्बर में रजनी-सुन्दरी विश्व पर अपनी अद्भुत मोहनी डालने लगी। कर्म का पूर्ण विराम हो गया। निद्रित सां-सां और सपनों का व्यापार चलने लगा। सोम और निशा के बीच अब जाग्रत तृतीय कोई नहीं था।

निशा ने संगीत स्वर में कहा—'सोम ! निशा के मन्दिर में तुम्हारा स्वागत है।'

सोम—'सोम नहीं, मुझे शशि कहो, निशा ! सोम केवल संध्या का है।'

निशा—'सोम ! छाया के पीछे क्यों दौड़ते हो ? संध्या दुर्लभ है। तुम उसे पा नहीं सकते। उसके द्वारा केवल मेरी सिद्धि कर सकते हो।'

सोम—'लेकिन तुम्हारी सिद्धि में मेरा केवल लक्ष्य है। देखो, निशा ! मेरी एक कला और क्षीण हो चली।'

निशा आकुल हो कर बोली—'नहीं, मेरे शशि ! नहीं। तुम मिटने के पथ पर हो। मैं तुम्हें मिटने न दूंगी। मेरा अमृत तुम्हें अमर रखेगा। तुम्हारी क्षीण होती हुई कलाएँ फिर से नवीन होकर तुम में जुड़ेंगी। मेरे प्रिय, चाँद ! मेरे प्यार के अमृत का तिरस्कार न करो। निशा तुम्हारी है। निशा केवल तुम्हारी है।'

नभ के वक्ष पर चन्द्र और निशा की यह गाथा अंकित होती रही है। चन्द्र क्षीण होता रहा। निशा मलिन पड़ती गई। तारक-दीप बुझते गये। निशा के आँसू धरती के कण-कण पर ओस बनकर बिखर पड़े और निशा तारों को लुटा-लुटा कर चन्द्र नाम की माला जपती रही। स्वयं से पराश्त चन्द्र ने प्राची की ओर देखा। उषा जाग रही थी, पर ठीक संध्या की सहोदरा-सी; पर महाशून्य उन दोनों के बीच का अन्तर बन कर विस्तार पा रहा था। सोम ने विकल होकर पुकारा—'संध्या !'

निशा ने भग्न स्वर में कहा—'मेरे मयंक ! आ। यह तो पूषा की अनुरागिनी है। तुम किसे अपनी संध्या समझ रहे हो ? लो, पूषा का उदय हुआ। मेरी मिलन अवधि समाप्त हुई। हां, सोम ! तुम मुझे तृप्ति दिये बिना ही क्यों चले जाते हो ?'

निशा रोते-रोते मिट गयी। सोम कहीं अन्तर्हित हो गया। फिर उषा। फिर पूषा।

बस, अब मैं भी इस कथा का अन्त करूं। मैं क्या करूं, कथा का अन्त ही आ गया। एक बात यह और कहनी भर है कि सोम संध्या के लिए विकल रह कर नित छीजता रहता है और फिर वह घड़ी भी आती है जब पूनो अमा में बदल जाती है। तब संध्या भी होती है, निशा भी, पर सोम नहीं होता। कोई कहता है कि सोम को विरह ने खा लिया और कोई कहता है कि सविता की ईर्ष्या में वह भस्म हो गया। सरल लोग यह भी कहते हैं कि चाँद खो गया; पर सत्य क्या है, कोई नहीं जानता। मुझे तो इस कथा में यही सत्य लगता है कि दो प्रेमी कभी नहीं मिलते या जो जिससे प्यार करता है, वह उसका प्यार कभी नहीं पाता!

× × ×

'हे मेघ, तेरे सम्मुख आ जाने से प्रिया के मुख की कांति वैसे ही फीकी पड़ गई है, जैसे बादलों की ओट में चन्द्रमा की।

दिन-रात रोने ही रोने से सूज गई आँखों वाला है वह मुख। गरम निश्वास छोड़ने से उस मुख के निचले ओंठ की लाली फीकी पड़ गई है।

बायें हाथ की हथेली पर उसने अपना गाल धर रक्खा है और बिना सुगंधित तेल वाले केशों की ओट आ जाने से उसका मुख पूरा-पूरा दिखाई नहीं पड़ता है। ऐसा है मेरी प्रिया का मुख! ऐसी स्थिति में तू उसे देखेगा!'

—मेघदूत

फ्राँस का लाल फूल

दक्षिणी अतलान्तक की नीली जलराशि सांझ के झुक आने से अधिक नीली हो गई थी। सूरज डूब चुका था, पर चांद न उगा था। शुक्ल नक्षत्र अकेला मौन-सा अतलान्तक का विक्षोभ देख रहा था। बीच-बीच में उठे छोटे-छोटे टापुओं पर पहाड़-सी लहरें सिर पटकतीं और फेन उगलतीं। टापू कितनी ही देर तक जलमग्न पड़े रहते और आकाश समुद्र के गर्जन-स्फूर्जन से भर उठता। इसी सब में जलराशि नीली न रह कर श्याम हो गई, शुक्र भी अकेला न रह कर अनेक नक्षत्रों से घिर गया। दक्षिणी अतलान्तक के विक्षोभ पर हंसती हुई रजनी उसके वक्ष पर उतर पड़ी थी।

उसी समय अतलान्तक की उताल लहरों को चीरता हुआ एक विशाल जहाजी बेड़ा बढ़ा। उस बेड़े पर यूरोप के सभी राष्ट्रों के झंडे फहरा रहे थे। मस्तूल पर इंगलैंड का झंडा बंधा था। समुद्री हवाएं उन झंडों को छेड़-छेड़ कर आगे बढ़ रही थीं। लहरों के गर्जन और हवाओं की सरसराहट के अतिरिक्त कोई ध्वनि न थी। बेड़े पर गहरी

निस्तब्धता छाई थी, जिस पर मिट्टी की जालीदार हंडियों में जलते हुए प्रदीप आकाश से बरसते हुए अंधकार को बेड़े पर से समुद्र की ओर धकेलने में लगे थे। प्रकाश के मद्धिम परिवेश में घिरा हुआ बेड़ा अंधकार और श्यामता के लोक में से श्यामल जलराशि पर तिरता हुआ द्रुतवेग से बढ़ रहा था। बेड़े के समीप पहुँच कर ऊँची-ऊँची लहरें छोटी-छोटी तरंगों में बदल जातीं, जिन्हें देख कर प्रतीत होता कि वे बेड़े पर जाने वाले किसी महासत्व के सम्मान में अपने सत्व की लघुता स्वीकार कर रही थीं।

तभी डेक पर घूमकर पहरा देते हुए एक सैनिक ने पूछा—'हम लोग किधर जा रहे हैं?'

एक भारी आवाज़ ने जवाब दिया—'कप्तान जाने!'

इसके पश्चात् शीघ्र ही गहरा सन्नाटा छा गया, जो फौजी जूतों की आवाज से बीच-बीच में भंग हो उठता, मानो हर आवाज उस सन्नाटे से पूछना चाहती हो कि बेड़ा किधर जा रहा है?

कुछ देर पश्चात् पुनः एक निर्भीक स्वर सुनाई पड़ा। उस स्वर से जान पड़ता था कि पूछने वाला व्यक्ति आज तक समुद्रों और पहाड़ों पर भी आज्ञा चलाता रहा। आल्प्स भी उसकी आज्ञा के आगे झुक चुका है। पर आज वही अपनी यात्रा का अन्त नहीं जानता था। उसने पूछा—'मैं किधर जा रहा हूँ?'

तिरस्कार के साथ एक कर्कश वाणी ने उत्तर दिया—'बन्दी को यह जानने की जरूरत नहीं!'

अपनी बात काटकर वह कर्कश ध्वनि कर्कश हास में परिणत हो गई। सन्नाटा भी तिलमिला उठा। समुद्री लहरें भी बेड़े को जोर-जोर के थपेड़े देने लगीं। अंधकार अधिक निविड़ हो गया, पर पूछने वाले ने निर्भीक स्वर में कहा—'बोनापार्ट किसका बन्दी हो सकता है?'

उत्तर देने वाले ने कहा—'यूरोप का।' इतना कहकर उसने ठहाका मारा और दोहराया—'नेपोलियन बोनापार्ट यूरोप का बन्दी !'

बन्दी नेपोलियन था और यूरोप की शक्तियों के सम्मिलित संरक्षण में वह किसी सुदूर टापू की ओर ले जाया जा रहा था। बोनापार्ट चुप हो गया, पर तभी उसके बन्दी साथियों ने उच्चस्वर में विरोध किया—'पेतित केपोरल ! यूरोप का विजेता है !!...विवेला एम्परर ! युग जीवी हो !!...तू ! अमर हो !!'

बेड़े के कप्तान ने कड़क कर कहा—'खामोश !' और अपनी शक्ति के प्रमाण में आकाश में बन्दूक दाग दी, जो सुनसान की छाती को चीरती हुई धाँय की आवाज से नभ को भर गई।

इसके बाद जब आधा चाँद आधी रात के साथ अपनी आधी यात्र पूरी कर छिप चुका था तो वह बेड़ा एक छोटे से टापू की खाड़ी की ओर किनारा पकड़ने के लिए बढ़ा। किनारे के निकट होते ही कप्तान ने आह्लाद भरे स्वर में चिल्ला कर कहा—'सेंट हेलेना !'

अनेकों कंठों ने इस ध्वनि को प्रतिध्वनित किया, जिनके तुमुल घोष में सेन्ट हेलेना ने भी जाना कि यूरोप की शक्तियाँ उसी का नाम ले-लेकर पुकार रही हैं। अपना नाम सुनकर वह चुपचाप लहरों के साथ बेड़े के किनारे पर लगने की प्रतीक्षा करने लगा। बेड़ा सीधा किनारे पर जाकर नहीं लग सकता था, अतएव कुछ अन्तर पर ही उसने लंगर डाला और कुछ क्षण के लिए लंगर छोड़ने वाले मल्लाहों की परिश्रम भरी आवाजों के अतिरिक्त सुनने को कुछ न रह गया। तत्पश्चात् यूरोप का बन्दी छोटी नौका में बैठा कर विशेष सावधानी के साथ तट पर ले जाया गया।

वीर बोनापार्ट ने उदासीनता, पर दृढ़ता के साथ सेंट हेलेना के दुर्गम और कठोर तट पर पैर रखा। अन्य बन्दी और सैनिक भी धीरे-धीरे तट

पर लाए जा रहे थे। बोनापार्ट मध्यरात्रि के उस अंधकार में विषादपूर्ण दृष्टि से टापू को दूर-दूर तक देखने में असमर्थ रह कर कभी चमकते हुए तारों को देखने लगता था, तो कभी समुद्र की चीखती-चिल्लाती फेन उगलती लहरों को। उसे इधर-उधर देखते, हुए प्रधान सैनिक संरक्षक ने कहा—'सेंट हेलेना है, बोनापार्ट! एलबा नहीं। दुर्गम, अति दुर्गम। पलायन असंभव!'

बोनापार्ट ने दृढ़ता से कहा—'नेपोलियन असंभव शब्द को नहीं जानता। मेरे लिए सब संभव है। पर अब....'

सैनिक संरक्षक ने अट्टहासपूर्वक बात काटकर कहा—'तो इस बार जीवन मृत्यु के मार्ग से ही पलायन कर सकता है, बोनापार्ट! और यही संभव भी है!'

बोनापार्ट ने जैसे सुना ही नहीं। उसकी स्मृतियाँ अतीत में रमने लगीं थीं। निर्दय वर्तमान के धक्के इसी प्रकार स्मृतियों की गोद में धकेल देते हैं। नैपोलियन भी वहां शान्ति पाते हैं। यूरोप का विजेता बोनापार्ट रूस की विजय कर निकला हुआ था। उसकी 'ग्रान्ड आरमी' विजय के मार्ग से रूसी प्रदेश में क्षिप्र-प्रवेश करती जा रही थी, पर सहसा रूसियों की लगाई आग से ही उसके प्यारे नगर ग्राम धू-धू कर जल उठे। मास्को भी न बचा। रूसी वीर उन लपटों के साथ चिल्ला-चिल्ला कर कह रहे थे—'इस बार ही नहीं, अनेक बार पहले भी, हम इसी प्रकार सर्वस्व से वंचित हो चुके हैं। अब हमें अपनी चीजों का मोह छोड़ देना होगा। आओ, हमें मरना है। फिर क्यों न वीरतापूर्वक मरें!'

स्मृतियों का चित्रलोक तेजी से घूमता गया। बोनापार्ट सेंट हेलेना के कठोर तट पर खड़ा देख रहा था कि उसे अपनी 'ग्रान्ड आरमी' को प्रत्यावर्तन का आदेश देना पड़ा है। सेना के पास रसद नहीं। पर्याप्त वस्त्र नहीं। जाड़ा जोर आजमा रहा है। बर्फानी मुल्क! नेपोलियन के

बहादुर सिपाही उस शीत से हार मान रहे हैं और जब वह अपनी राजधानी में पहुँचता है तो उसकी उस विशाल सेना का नाम शेष ही रह जाता है।

नैपोलियन ने ठंडी सांस ली। इधर-उधर देखा और फिर पुनः अतीत की ओर लौट गया—यूरोप की सभी शक्तियों ने उस पर आक्रमण कर दिया था। उसकी सैन्य-शक्ति नष्ट हो चुकी थी। उसे समर्पण कर देना पड़ा और तब एलबा !...

हेलेना के टापू पर खड़े हो उसने सोचा—'एलबा !..वह बन्दी था, पर उसके मन ने उसे बन्दी कभी न माना। एक वर्ष भी बीतने न पाया कि वह एक छोटी सी डोंगी के सहारे एलबा से फ्रॉन्स के तट पर जा लगा। बूर्बानों की शक्ति डोल उठी। लुई अट्ठारहवां घबड़ा गया। उसके साम्राज्य की सेना नेपोलियन का सामना करने को चढ़ दौड़ी। हर कोई इतना ही जानता था कि नेपोलियन चढ़ आया।

और उस दिन फ्रांस के उत्तर तट पर एक ओर थी फ्रान्स की विशाल सेना दूसरी ओर अकेला बोनापार्ट। जीर्ण, शीर्ण, थका-माँदा, नंगे पांव, फटे वस्त्र और निहत्था। सेना तैयार थी और वह दृढ़ता के साथ उसकी ओर बढ़ रहा था। जाने कैसा जादू था उसकी आँखों में कि जब वे सेना पर पड़ीं तो बन्दूकें उसकी सलामी में आसमान को भेदती हुई छूट पड़ीं। हर एक सिपाही चिल्लाया—'हमारा तू ! युग जीवो !!' 'पेतित केपोरल ! फ्राँस का है !!' 'विवेला एम्परर ! हमारा सम्राट है !!'

वह पुनः सम्राट हो गया। हेलेना के तट पर बन्दी के रूप में खड़े-खड़े भी उसने सम्राट की गरिमा का अनुभव किया। उसकी आँखें अँधकार में भी चमक उठीं, जिनकी चमक देख कर ही कदाचित् रूसी कमिश्नर ने कहा—'बोनापार्ट ! वेलिंग्टन और ब्लूचर को फिर से वाटर लू का युद्ध न लड़ना होगा। सावधान ! यह एलबा नहीं सेंट हेलेना है।

सेंट हेलना ! दुनियाँ का सबसे दुर्गम स्थल, सबसे अधिक विलग; सबसे अधिक दुर्गम; जिसकी रक्षा सरलता से की जा सकती है; पर जिस पर आक्रमण असंभव है। सबसे अधिक जन सम्पर्क से शून्य !'

यूरोप अपने बन्दी को सेंट हेलना भेज कर आश्वस्त हो गया। अँग्रेजी गवर्नर की कठोर संरक्षा में फ्रान्स की किसान सेनाओं का प्यारा नेपोलियन अपने साथियों सहित अपमान का जीवन व्यतीत करने लगा। उसे अपने अधिकार में लेते हुये अँग्रेज गवर्नर ने सदर्प कहा—'बोनापार्ट ! तुम्हीं कहते थे न कि शक्ति मेरी प्रिया है ! मैंने अपनी इस प्रिया को इतने बलिदानों के बाद जीता है कि मैं किसी को इसकी ओर अँगुली भी उठाने न दूँगा !!'

नेपोलियन चुप रहा। गवर्नर ने क्षुद्रता के साथ कहा—'आज तुम्हारी वह प्रिया मेरी दासी बन चुकी है। इधर देखो, नेपोलियन ! अब तुम मेरे बन्दी हो। यूरोप ने तुम्हें मुझे सौंपा है। तुम्हें अब मेरी आज्ञाओं में चलना होगा !'

नेपोलियन ने आकाश की ओर देखा और धीरे से कह दिया—'मेरी प्रिया को मुझ से कोई नहीं छीन सकता था। सौ-सौ वेलिंग्टन और वाटरलू चर भी मुझे हरा नहीं सकते थे। वाटर लू से मुझे आज भी डर नहीं। मैं हारा अपने ही कारण हूँ।'

इसी प्रकार यूरोप का बन्दी सेंट हेलना में कठोर जीवन जीने लगा था। एक वर्ष बीत गया। कुछ महीने और भी बीत गए। उसके अनेकों साथी इसी बीच में गवर्नर की कठोरता को न सह सकने के कारण मर चुके या मारे जा चुके थे। जब जानवरों के लिये भी अखाद्य खाना उन्हें परसा जाता तो वे एक दूसरे का मुँह ताका करते। बूढ़े जानवर के बासी और बदबूदार कच्चे गोश्त के टुकड़े को दिखा कर कोई बन्दी कहता—'आज यूरोप में हमारे खाने के लिये यही रह गया है !'

नेपोलियन होठों की कठोरता को नेत्रों की सदय मुस्कान से कोमल करके उसी टुकड़े से गोश्त नोचता हुआ कहता—'प्यारे साथी! यह बड़ा मीठा है। खाओ भी। ऐसी सुगन्ध तो पकवानों में भी नहीं होती!'

कर्तृत्व में विश्वास रखने वाला बोनापार्ट धीरे-धीरे विचारों में ही उलझा रहने लगा। जीवन में उत्थान-पतन, हेलेना के बिडम्बित जीवन, अनेकों मान-अपमान और आशा-निराशा ने उसे चिन्तनशील बना दिया। वह एक ऐसे दार्शनिक की तरह जीने लगा जिसका जीवन सेंवार से ढके सरोवर के समान हो। पर एक दिन एक समाचार से उस सरोवर में भी वेदना का तूफान उठ खड़ा हुआ। जब कितनी ही रात के बीत जाने पर नेपोलियन सोने का उपक्रम कर रहा था, अँग्रेज गवर्नर ने दुःस्वप्न के समान आकर कहा—'बोनापार्ट! सो रहे हो?'

नेपोलियन ने लेटे-लेटे कहा—'हाँ, सोना तो चाहता हूँ।'

गवर्नर निर्णय-स्वर में बोला—'पर मेरे पास तुम्हें बताने को कुछ ऐसा है, जिसे सुनकर तुम सो न सकोगे।'

नेपोलियन ने दृढ़ स्वर में कहा—'गवर्नर! मैं बन्दी होने पर भी नेपोलियन हूँ। और एक दिन मेरे बूटों की उड़ाई धूल के तले सारा यूरोप स्याह भी पड़ चुका है। तब मैं लड़ाई के मैदानों में गरजती तोपों के पीछे और घोड़े की पीठ पर भी सो लिया करता था। तुम्हारे पास ऐसा कौन सा विष है जो मुझे न सोने दे?'

गवर्नर ने तिरस्कार के साथ हँस कर कहा—'तो सुनो। तुम्हें अपनी माँ याद आती है?'

नेपोलियन कोमल स्वर में बोला—'क्या उसकी याद पर नियन्त्रण करना चाहते हो? भला, मुझे वह माँ याद न आएगी, जो मेरी विजयों पर फूली न समाकर फूलों की वर्षा कर मेरा स्वागत करती थी। अब वह बहुत अधिक बूढ़ी हो चुकी है। जीवन के दुःखद परिवर्तनों ने उसे और भी

बूढ़ा बना दिया है। मुझे दुःख है कि मैं अपनी प्यारी माँ को मरते दम तक विजयों के उपहार न दे सका। गवर्नर! उस माँ के लिये मैं सब कुछ कर सकता हूँ। मेरी माँ बड़ी ही अच्छी है।'

गवर्नर बोला—'जरूर अच्छी है, बोनापार्ट! तभी न उसने तुम्हारे साथ ही हेलेना में बन्दी रहने की प्रार्थना की है।'

नेपोलियन उद्विग्न होकर पूछ बैठा—'तो क्या मेरी माँ...'

गवर्नर ने कहा—'हाँ, वह तुम्हारे साथ ही रहना चाहती है। पर...'

'पर...पर...क्या?' बोनापार्ट चंचल हो उठा था।

गवर्नर ने कठोरता के साथ कहा—'यूरोप को यह पसंद नहीं। जिस स्त्री ने बोनापार्ट जैसी तूफानी विपदा को जन्म दिया, उसकी वैसी किसी प्रार्थना पर विचार नहीं किया जा सकता है।'

बोनापार्ट बालक की तरह बोला—'ऐसा न कहो, गवर्नर! वह मेरी माँ है। नेपोलियन की माँ। बूढ़ी माँ। उसका सम्मान करने की चेष्टा करो।'

गवर्नर अभिमान से भर कर बोला—'बन्दी की माँ का सम्मान? बोनापार्ट! भूलते क्यों हो कि तुम सेंट हेलना में यूरोप के बन्दी हो और अपने गवर्नर से बातें कर रहे हो!'

बोनापार्ट अपमान का घूंट पी कर भी कोमल स्वर में कह गया—'पर यह तो मनुष्यता है। मनुष्यता की माँग है। मनुष्य होकर विचारो।'

'विचारा है। मनुष्य होकर भी विचारा है।' गवर्नर ने कहा—'पर वह बुढ़िया, जिसकी आँखों की जोत भी बुझ-सी चली है, यहाँ आकर करेगी भी क्या? तुम्हें ठीक से देख भी तो न सकेगी। फिर यह क्यों चाहते हो कि जो अपने विजयी पुत्र का गर्व से फूलों से स्वागत करती थी, वही बन्दी पुत्र का निराशा के आँसुओं से अभिषेक किया करे?'

गवर्नर ने अनुभव किया कि जैसे मैंने आज नेपोलियन को सबसे बड़ी हार दी है। वाटर लू से भी बड़ी हार और उस विजय की खुशी में

पहरे के सिपाहियों को कड़ी आवाज में आदेश देता हुआ तिरस्कार भरी हँसी को पीछे छोड़ कर बढ़ चला। सच ही उस रात नेपोलियन न सो सका।

वह यूरोप को कभी अपने नाम से कँपाने वाला नेपोलियन था। सम्राट और साम्राज्य उससे भूत की तरह काँपते थे। विपुल जन-संहार उसके संकेतों पर हो जाता। पर आज उसके मन की एक कोमल भावना पर गवर्नर ने आघात कर दिया कि उसके पुराने विचारों की दृढ़ता डगमगाने लगी। उसके मन में अथाह वेदना संचित हो चुकी थी और अब वह शान्ति चाहता था। यह शान्ति उसे पीछे जाने में उस धर्म में मिलती जान पड़ी, जिसे वह यह कह कर पीछे छोड़ आया था कि सुकरात जैसे संत के हत्यारे धर्मों का मुझसे प्रयोजन ही क्या? धर्म शोषितों को स्वर्ग की आशा में जीवित रखता है, जिससे वे पृथ्वी पर धनिकों का स्वर्ग न मिटा डालें। समाज को विषमता चाहिए और यह विषमता धर्म ही दे सकता है—एक छोटा, एक बड़ा, एक धनी, एक निर्धन।

पर वेदना के क्षणों में वह यह महसूस करने लगा था कि धर्म अवश्य ही इस सब कुछ से पृथक कुछ ऐसा है, जहां राजा-रंक, दीन-हीन, सभी शान्ति पा सकते हैं। वह धर्म क्या हो सकता है, इस पर भी उसने सोचा। अनेकों प्रश्न उसकी चिन्ता ने उपस्थित किये। पोप और लूथर, गिरजे, बाईबिल, प्रोटस्टेन्ट, केथोलिक्स यहाँ तक कि प्रभु ईसा भी उसके सामने आए, पर वह किसी के धर्म पर न टिका! आज उसकी भावना व्यक्ति, समाज और राष्ट्र से भी आगे बढ़ कर राष्ट्रों के समूहों में प्रश्रय खोज रही थी। इसी से विराट् मानवता के विराट् धर्म की कल्पना वह कर सकता था।

इस प्रकार वह फ्रान्स का लड़ाकू पुत्र अपना फ्रान्सीसी होना भूल कर एक मनुष्य की नाईं विश्व की सुख शान्ति पर विचार करने

लगा। इससे उसे भी शान्ति प्राप्त हुई और वह अपनी जीवित विडम्बनाओं तक को भूल गया। तभी अंग्रेज गवर्नर ने अतीव उद्धत स्वर में कहा—'बोनापार्ट! जानते हो वाटर लू का विजेता कौन है?'

नेपोलियन इस आकस्मिक प्रश्न से चौकन्ना-सा बोला—'जानने की आवश्यकता ही क्या?'

'वह आवश्यकता मैं समझता हूँ।' गवर्नर बोला—'फ्रान्सीसी होकर यह भूल ही कैसे जाते हो कि तुम्हें अँग्रेज ने हराया है!'

नेपोलियन ने अविचलित होकर उत्तर दिया—'तुम सोच सकते हो। अपनी हार के बारे में पहले ही कह चुका हूँ। फिर सुनना चाहते हो तो जान लो कि मैं अँग्रेज से नहीं, जनता से हारा हूँ। जनता की शक्ति को मैं पूरी तरह समझ न पाया था।'

'बकते हो!' गुस्से में आकर गवर्नर बोला—'ढोंग रचते हो। जनता, जनता, बेकार की बात जनता! क्या नहीं जानते कि जन-क्रान्ति करने वाले फ्रान्स पर फिर से बूर्बान का राज्य रक्त-शासन कर रहा है। जिस मूर्खता को तुम जनता कहते हो, वह तुम्हारी हार के साथ मर चुकी है।'

सवेरा उगा ही था। सूरज लाल से पीला पड़ रहा था। पक्षी कभी के समुद्री किनारों पर उड़ने लगे थे। बोनापार्ट ने उदय के उस शुभ दृश्य को देख कर शान्ति और श्रद्धा के साथ कहा—'गवर्नर! तुम कुछ भी कहो। अब पुराने विचारों को नए विचारों के लिये मर जाना होगा। देखो, चाँद डूब गया है, सूरज चमकना चाहता है।'

गवर्नर ने अहंकार से भर कर कहा—'सीखना मुझे नहीं, तुम्हें है, बोनापार्ट! तुम बताओ कि तुमने क्या सीखा?'

नेपोलियन ने अकलुषित स्वर में वेदना-प्लुत होकर कहा—'मैंने भी सीखा है। अब मेरा अन्त समीप है। मुझे इस दृश्य से हट जाना है। यही सीखा है।'

नेपोलिन को सेंट हेलेना में आये कोई साढ़े पाँच वर्ष व्यतीत हो चुके थे। जीवन को दृश्यमान रखने वाले सत्यशील तत्व धीरे-धीरे क्षीण हो चले थे। सुबह बीती। दिन चढ़ा। सूरज चढ़ा, चढ़ कर ढल गया। साँझ आ गयी। श्यामता छा गई। नेपोलियन के मन में भी कुछ वैसे ही परिवर्तन हुये। चेहरा कुछ श्याम हो गया था, पर नेत्रों की ज्योति तीव्र हो चली थी। आज दिन भर वह भूखा ही रहा। उसके साथी भी भूखे रहे। जब साँझ अपनी आँखों में काजल आँजने लगी तो उसने पहरे पर के सिपाही से कहा—'सिपाही! गवर्नर से कहला दो कि बोनापार्ट मिलना चाहता है।'

सिपाही भी अँग्रेज था। तिरस्कार के साथ बोला—'बन्दी! गवर्नर तुम्हारी इच्छा से नहीं, अपनी इच्छा से मिला करता है।'

बोनापार्ट ने दृढ़ स्वर में कहा—'पर आज उसे मेरी इच्छा से मिलना होगा!'

स्वर में दृढ़ता थी विश्वास की। तभी जाने कैसे सहसा गवर्नर आ उपस्थित हुआ। सिपाही चमत्कृत होकर रह गया। उसने नेपोलियन की आँखों का तेज देखा और पीछे हट गया। गवर्नर ने आगे बढ़ कर कहा—'क्या कहना चाहते हो, बोनापार्ट?'

नेपोलियन ने शान्त स्वर में कहा—'गवर्नर! मेरा अंत समीप है। पर सर्वान्त से पहले अपने पुत्र के नाम एक संदेश छोड़ जाना चाहता हूँ। मेरे पास अनुभव-सिद्ध कुछ शब्द हैं। वे ही उसे मुझसे उत्तराधिकार में मिलें।'

गवर्नर ने अवज्ञा के साथ कहा—'किस पुत्र की बात करते हो, बोनापार्ट? क्या उसी की, जिसे तुम प्यार के अभिमान में 'रोम का राजा' कहा करते थे?'

उसके व्यंग्य पर भी बोनापार्ट स्वच्छ और शान्त स्वर में बोला—'हाँ, कभी यही कहना पसन्द करता था। 'रोम का राजा!' यह मेरे उस प्यार का नाम है, जो विजेता नेपोलियन के रूम में सम्राटों के मुकुटों

से खेलता था। पर आज वह प्यार नहीं। मेरा पुत्र मेरे असफल वैवाहिक जीवन की निशानी है। उसे जीवन की अन्य असफलताओं से बचाने के लिये मरने से पूर्व कुछ कह जाना चाहता हूँ।'

गवर्नर ने कहा—'मरने की बात क्यों सोचते हो, बोनापार्ट! हम तुम्हें इतने सुख से मरने देना नहीं चाहते। अभी सेंट हेलेना में कुछ वर्ष और.....'

नेपोलियन धार्मिक-पुरुष के समान बोला—'जीवन पर किसी का अधिकार नहीं। उसके आने-जाने के मार्ग भी तलवार से नहीं रोके जा सकते। सुनो, जिसे तुमने 'रोम का राजा' कहा है, उसी अपने पुत्र के बारे में, मेरा विश्वास है कि वह जीवित रहा तो अवश्य ही राज्य करेगा। पर उस भावी राजा को मैं बता देना चाहता हूँ कि वह प्रेम और शान्ति से मनुष्यता की समृद्धि के लिये राज्य करे। और यह भी न भूले कि शक्ति के समस्त स्रोतों का मूल जनता है।'

बोनापार्ट का अन्तिम संदेश पूरा हुआ। तभी शुक्र के समीप उग आया तारा आकाश से टूट कर कहीं धरती पर गिर पड़ा। बिना बादलों के ही आकाश में बिजली चमकी। बिना तूफान के समुद्र में आलोड़न हुआ। अँग्रेज गवर्नर ने भी देखा कि पत्थर पर बैठा बोनापार्ट भूमि पर लुढ़क गया है। उसने कठोर होकर कहा—'बोनापार्ट! उठो! सेंट हेलना का गवर्नर अभी भी तुम्हारे सामने है!! उसका शासन अभी भी इस टापू, इसके प्रत्येक जन और प्रत्येक जीव पर है!!'

पर फ्रान्स की रक्त-क्रान्ति का वह लाल फूल, फ्रान्सीसी सिपाहियों का लाड़ला नेपोलियन, मनुष्य से ईश्वर की आज्ञाओं के देश में जा चुका था।

बोनापार्ट की मृत्यु का समाचार जब फ्रान्स पहुँचा तो बोनापार्ट की बूढ़ी अँधी माँ फ्रान्स की एक सड़क पर बावली सी चिल्ला उठी थी—'हाय, प्यारे तू! हाय, प्यारे पेतित केपोरल!! ओ, मेरे विवेला एम्परर!!'

गतिहीन

जैसे ही धूप खिड़की से अन्दर झाँकी कुमार स्वामी ने खाकी पतलून पर खाकी कोट पहना और चल दिया। पाँच बरस का सोमू रोता रहा, पच्चीस वर्षीया पत्नी ज्ञानगंधा झल्लाती रही पर, वह चल ही दिया। जिस हाथ से उसने सोमू को चपत लगाए थे वह अभी झल्ला ही रहा था; और जो इस तरह सुकुमार सोमू की चोट का अहसास भी कराता जा रहा था। ज्ञानगंधा की गंभीर विवश आँखों का रोष देखने तक कि उसे फुर्सत नहीं थी; धूप जो खिड़की पर उग आई थी! बस, वह कापाली मन्दिर के लिए चल दिया। वहाँ इक्कीस नम्बर की बस उसका इन्तजार जो कर रही थी।

वह गली में आया। काफी कीचड़ थी। जब बारिश रहती है तो गली में सागर लहराने लगता है। चप्पल छींटें उड़ाएँगीं, इसका भी उसे ध्यान नहीं आया। नित्य की आदत के अनुसार चलता हुआ गली से सड़क पर आ गया। कापाली मन्दिर वहाँ से पास ही था। मन्दिर का गोपुरम् उसे सड़क पर आते ही दिखाई देने लगता था।

उसकी दृष्टि उनके शिखर तक उठी और फिर एक आहत पक्षी के समान भूगामी हो गई। मन्दिर तो अचल था। उसका जीवन भी एक खास परिधि में भटकता हुआ अचल ही था। गोपुरम् को देखकर सोचने की बात हो भी क्या सकती है। जैसे धूप रोज खिड़की में से झाँकती है और वह ड्राइवरी लिबास में चल देता है, वैसे ही मन्दिर का यह गोपुरम् सड़क पर आते ही दिखाई देने लगता है। मन्दिर आ गया। मन्दिर के बाहर के विशाल कुंड में पानी सड़ रहा था। उसका रंग बदल कर हरा हो गया था। उस गन्दगी में भी कमल खिले थे। फूलों से ज्यादा पत्ते थे, जो कुँड की गन्दगी का आवरण बने थे। स्थिर जल की बदबू में भी सुगन्ध भरे कमल खिलते हैं, पता नहीं कि उसने ऐसा कुछ सोचा भी या नहीं। इस समय तो उसका सारा आकर्षण बस की ओर था, जिसका इक्कीस नम्बर उसके लिए उतना ही महत्वपूर्ण था जितना कि अपना नाम।

जिस ड्राइवर की अब छुट्टी हो रही थी वह कुमार स्वामी को देखते ही खिल उठा, जैसे थकान का भारी पत्थर जिन्दगी के उस सड़े तालाब में सब सहारे तोड़ कर डूब ही गया हो। 'वन्दनम्!' उसने कहा। स्वर में स्फूर्ति थी। 'वन्दनम्!' कुमार स्वामी ने कहा। उसके स्वर में जड़ता थी। जैसे वह भी दैनिक कार्यक्रम का अंग हो। वह स्टीयरिंग पर जाकर बैठ गया। कन्डक्टर भी बदल गया था। अब त्यागराज ड्यूटी पर था। उसे यह त्यागराज विषधर-सा लगता है। जब वह सीटी बजाता है तो उसके समस्त अंग एक कठोर-सी आज्ञा से भर कर काम करने लगते हैं। उसकी सीटी पर काम करते-करते कुछ ऐसा अभ्यास-सा हो गया है कि सोते-सोते उसके हाथ पाँव गियर, क्लच, ब्रेक ढूढने लगते हैं। त्यागराज ने सीटी बजाई। कुमार स्वामी के हाथ-पांव मशीन से चले। इन्जन ने गर्जना की। इक्कीस नम्बर संसार आगे बढ़ा। फिर गियर बदला, गति तेज हुई और मोटरों, बसों, जटकों, रिक्सों और बंडियों

(ठेलों) से भरी सड़क पर उसकी सुरंग-सी लम्बी बस ऐसी सरकने लगी, जैसे महाव्याल बन में फूत्कार करता हुआ बढ़ रहा हो।

तन उसका बस में था। दिमाग उन अंगों में जो इन्जन की कलों से खेलते थे और मन गली की उस कोठरी में जिसकी एकमात्र खिड़की से सूरज की पहली किरण को देखते ही वह घर छोड़ देता है। वह सोच रहा था कि घर वाले उसकी हत्या पर तुले हुए हैं। इन सबका उदर भरते और तन ढँकने के लिए वह कितना श्रम करता है और फिर भी वे एहसान फरामोश से उससे और अधिक और अधिक की चाहना करते रहते हैं।

तभी उसके आगे सवारी आई। उसकी चिन्तना में कोई व्याघात नहीं पड़ा। हाथ अपने आप ही हार्न पर जा पड़ा। पैर ने ब्रेक को संभाल लिया और फिर खतरा दूर होने पर उन्ही अंगों ने कल को गति दे दी। उसके वे अंग स्वामीभक्त परिचारक के समान थे जो बिना किसी आदेश की प्रतीक्षा के अपने कर्तव्यों का समुचित पालन करते थे।

इतने में त्यागराज के पट्ठ होठों से मधुर-सी ध्वनि निकली। उसे सुनने वालों को वह अवश्य ही मधुर लगती है, पर कुमार स्वामी को उससे कटु कुछ नहीं लगता। इन्जन की गर्जना और हार्न की चिंघाड़ में भी वह माधुर्य का अनुभव करता है और उन ध्वनियों की विकृतियों के नाना अर्थ भी लगाता है। पर त्यागराज की सीटी का एक ही कठोर अर्थ होता है—'रुक जाओ! या चल दो!' वह रुक भी जाता और चल भी देता है।

इस बार बस रुक गई। लंज फार्नर का बस स्टैन्ड था। सवारियाँ चढ़ने लगी। वह इन सवारियों को भी अनायास देख लिया करता है, वैसे ही जैसे कापाली मन्दिर के गोपुरम् के ऊँचे शिखर को। नित्य नये

लोग होते हैं पर उसे उनमें कोई नयापन नहीं मिलता। लुंगी पहने हुए मद्रासी, गजरों से केशों के भारी जूड़ों को सुवासित करने वाली दक्षिणी सुन्दरियाँ, छोटे, बड़े। कोई पैंट पर पगड़ी पहने तो कोई बुशकर्ट पर लुंगी धारे। विशाल शिखाधारी ब्राह्मण, जिसके अंग पर मोटा यज्ञोपवीत खूब खिलता हो; हरे, नीले, पीले, लाल, बैंगनी गहरे रंगों की काफी मूल्य की भारी साड़ियाँ, जूते, चप्पल और नंगे पांव भी। कोई खुशहाल तो कोई फटे हाल। फिर भी कुमार स्वामी को उनमें कोई अन्तर नहीं दिखता। उसे वह जन-प्रवाह ज्वार के समय उठने वाली इन समुद्री लहरों-सा लगता जो एक सी ही दिखाई देती हैं या उस धारा-सी जिसकी अनन्त बूदें हर क्षण बनने-मिटने वाली लहरों में अपना अस्तित्व खोकर केवल एक तरल गति का बोध कराती हैं। बस जिस तरह पैट्रोल की गन्ध में उसे कोई नयापन नहीं लगता, उसी तरह बस से उतरने और चढ़ने वाले उस जन-प्रवाह में भी नहीं।

और त्यागराज के ओंठ फिर आदेश से भर उठे। कुमार स्वामी के कानों में फिर गर्म शलाखें चुभीं, हाथ-पांव फिर व्यस्त हो उठे और इक्कीस नम्बर की बस पृथुल देह अजगर-सी संकरी सड़क पर भी सरकने लगी। कुमार स्वामी सोच रहा था कि ज्ञानगंधा के केश कितने सुन्दर हैं। उनमें मालती के फूलों को गूंथने में उसे कितना सुख मिलता है। मन्दिर के कुन्ड पर बैठा हुआ गजरे वाला एक आने में मुश्किल से एक हाथ लम्बी फूलों की लड़ देता है। उसे नहीं मालूम कि मैं उससे किसी के नकली बालों को नहीं सजाता। ये रूप-सुन्दरियाँ, जिनके सिरों पर जूड़ों के गापुरम् से बने रहते हैं, न जाने कितने अपने और कितने पराये बालों को अपनी सुन्दरता का निमित्त बनाती हैं और इस पर भी ज्ञानगंधा कहती है कि मेरे लिए वेणी मत लाना, सोमू के लिए दूध ले आया करो।

सोमू! सिर्फ सोमू के लिए ही सब कुछ हो! मैं अपना पेट काटकर

उसका पेट भरता हूँ। खुद नंगा रह कर उसका तन ढँकता हूँ। और फिर भी वह मेरे सामने नई-नई आवश्यकतायें पेश करता रहता है। उसे खुशी होती है उसकी माँग पूरी करके। मुझे भी तो होती है! पर मैं पति भी तो हूँ! और वह....उसकी आँखों के आगे थी मलिनवसना श्यामा ज्ञानगंधा। वह धूमिल रूप की गंध बिखेरती हुई आ खड़ी हुई! वह चाहता है कि जब घर पहुँचे तो उसे फूलों से इतना लाद दे कि जब रात को सोए तो उसका पार्श्व मलिन शैया पर भी फूलों के सुवास से भरा रहे! पर....

अचानक ब्रेक लगा। बस ने झटका खाया। मुसाफिर ने सहारा मिला उसी को मजबूती से पकड़ कर संभलने लगे। कोई यात्री गलती से बस में चढ़ आया था। त्यागराज ने उसे उतारने के लिए बिना स्टाप के जो सीटी बजाई उसने यह एक तूफान-सा खड़ा कर दिया। कुमार स्वामी ने जहरीली दृष्टि से घूम कर देखा, पर वह मुसाफिरों की खड़ी कतार को बींध कर पिछले दरवाजे के पास खड़े त्यागराज को देख ही न पाया। उसकी सीटी के अनुशासन में बँधे उसके अंगों ने अपना कर्तव्यपालन किया। झटके से उसकी चिन्ता-धारा टूटी और उसे लगा कि उसने फूलों की जो मनोहर प्रतिमा बनाई थी वह उसी के हाथों ने तोड़ दी।

फिर सीटी, फिर कल पुर्जों में व्यस्तता, फिर इन्जन की गर्जना, फिर भीड़ भरी सड़क पर हाहाकार भरी गति। रायपेटा पीछे छूट गया था। ओडियन, मिडलैन्ड के स्टाप जहाँ के तहाँ रह गये थे। अब वह माउन्ट रोड के स्टाप की ओर दौड़ रहा था। वहाँ पहुच कर पैरिस और निकट आ जायेगा। वहाँ पहुँच कर एक यात्रा समाप्त हो जायेगी और फिर दस मिनट बाद ही दूसरी की व्यस्तता। उसने एकसीलरेटर दबाया। माउन्ट रोड का स्टाप उसका आवाहन कर रहा था। मोड़ आने पर भी उसने गति कम नहीं की। उस झोंक में कन्डक्टर त्यागराज के लिये

स्वयं को संभालना मुश्किल हो गया था। तभी आवाज करते हुए ब्रेक लगे। सब लोग झटके से आगे को झुक आए। किसी सुन्दरी का जूड़ा शिथिल हो गया, तो किसी ब्राह्मण की शिखा खुल गई। त्यागराज के मुख से नालियों का पतनाला बह निकला। कुमार स्वामी इस आन्दोलन में भी स्थिर था। उसकी आँखों के सामने ही चौराहे का सिपाही अपनी सफेद बाँह उठाए खड़ा था। एक मामूली सी बाँह! कोई कुम्भकर्ण नहीं! भीम नहीं! पर फिर भी वेग से बढ़ता हुआ सवारियों का महा-प्रवाह तत्काल स्थिर हो जाता है। कुमार स्वामी ने इस बारे में कभी तर्क नहीं किया। इसे भी गोपुरम् के शिखर और पचासों बस स्टापों की तरह ही स्वीकार कर लिया था। चौराहे के सिपाही की सफेद बाँह गिरी और दूसरी तरफ उठ खड़ी हुई। एक ओर का चंचल-प्रवाह स्थिर हो गया और दूसरी ओर का स्थिर प्रवाह चंचल। इस बार त्यागराज की सीटी की प्रतीक्षा किए बिना ही उसने इञ्जन को स्टार्ट कर दिया।

माउन्ट रोड भी बीत गई। इसकी सजी सजाई दूकानों को देखकर भला कोई कह सकता है कि मद्रास में भी कहीं कोई अभाव हो सकता है। सजी हुई दुकानों से उसे बड़ी ईर्ष्या होती है। लोगों ने यहाँ निर्जीव वस्तुओं को भी प्राणों का उन्माद दे रखा है, जब कि उसकी प्राणप्रिया के भाग्य में मृत्यु का-सा अभिशाप ही है। उसकी निगाह क्षण भर को ही दुकानों पर घूमकर फिर काली सड़क की चपटी छाती पर पहियों से भी आगे दौड़ने लगी जिस पर विपरीत दिशा से आती हुई जाने कितनी सवारी गाड़ियाँ गुजर रहीं थीं।

उसे सोमू का फिर ध्यान आया। उसे अपने जीवन में सुख का एक ही क्षीण स्रोत दीखता है—वह है पत्नी ज्ञानगंधा! पर सोमू ने उसमें भी बँटवारा कर दिया। नहीं, उसे समूचा ही पी' लिया! घर लौटकर अपनी पत्नी को, नहीं, सोमू की माँ को पाता हूँ। तीन बच्चे तो और भी तो हुए थे और होकर मर भी गए थे। जाने यह क्यों नहीं मर

जाता ? अगर यह मर सकता ! कुमार स्वामी की माथे की नसें तन आईं थीं। आँखों में ज्ञानगंधा थी, जिसे वह फूलों से सजा रहा था, पर जो सोमू की मृत्यु पर रो रही थी। वह सिहरा और फिर सोमू के प्रति दुगनी घृणा से भर उठा। यह सोमू अभिशाप है; पत्नी को बाँटने वाला ! उसकी कमाई को बाँटने वाला; उसके सुखों का स्राप ! और तभी एक बस स्टाप आ गया था।

गाड़ी रुकी और बढ़ चली, पर उसकी चिन्ता-धारा न रुकी थी। बस के चलने पर भी चलती रही थी—सोमू बीमार पड़ा था। उसे बचाने में कुमार स्वामी को सौ रुपये का कर्ज लेना पड़ा था। पास की पूँजी तो साफ हो गई थी। कब से वह चाहता था कि ज्ञानगंधा को काञ्जीपुरम् की हरी साड़ी पहनाएगा ! साड़ी नहीं आ पाई ! कभी आ भी नहीं पाएगी ! रुपया चला गया ! बीमारी चली गई ! बीमारी चली गई ! पर सोमू नहीं गया !

बस तेजी से सेन्ट्रल स्टेशन की तरफ दौड़ रही थी। सड़क पर अपेक्षाकृत कम भीड़ थी, पर गाड़ी की गति अपेक्षाकृत अधिक थी। इतने में जाने किस पटरी से किसका बच्चा दौड़-दौड़ा आया और उसने इक्कीस नम्बर की बस से पहले ही सड़क पार करना चाहा। कुमार स्वामी ने देखा—कोई पाँच साल का ही बच्चा ! ठीक सोमू जैसा ! नहीं, सोमू ही। वह बस के सामने आ गया है। बस अगले ही क्षण उसके शरीर पर से दौड़ रही होगी। ठीक है; ठीक ही है ! उसका रक्त उबाल खा रहा था। आज यह काँटा भी निकल जायेगा ! सोमू !..सोमू !..सोमू को कुचल डालने के लिए उसने आँख बन्द करके गति और तेज कर दी। बस, अब सोमू नहीं बचेगा ! सोमू नहीं बचेगा !! पर तभी त्यागराज के पद्म ओंठों से वही सीटी की आवाज निकली। सदा से अधिक कर्कश। कुमार स्वामी के अंगों ने हठात् आदेश से बँध कर अपना कर्तव्यपालन किया। गाड़ी में ब्रेक लगा। इन्जन बन्द हुआ। पहाड़ से गिरता सोता अचानक

किसी चट्टान की कोख में समा गया। यात्रियों के सिर टकरा गये, कुमार स्वामी स्वयं हैंडिल पर गिर पड़ा, पर बस स्थिर हो गई थी और वह बच्चा दूसरी पटरी पर आ गया था।

यह कुमार स्वामी तो अन्धा होकर कभी गाड़ी नहीं चलाता। त्यागराज को अचरज था। वह उसके पास आया। उसने कुमार स्वामी को उठाया। वह अर्द्धचेतन-सा था। उसने उसे झिझोंड़ा। कुमार स्वामी चैतन्य हुआ।

उसका शरीर तप रहा था। माथा पसीने से गीला था। त्यागराज ने मीठे स्वर में पूछा—'तुम्हारी तबियत ठीक नहीं? बुखार आ रहा है? ड्यूटी पर क्यों आए आज?'

कुमार स्वामी संभल गया था। उसने कहा—'कुछ नहीं!' सीट पर जम कर बैठ गया, स्टीयरिंग पर हाथ रक्खे और त्यागराज के आदेश की प्रतीक्षा करने लगा। त्यागराज ने जाने क्या सोच कर सीटी बजा दी और बस फिर दौड़ने लगी, जैसे कुछ हुआ ही न हो। जैसे जीवन एकमात्र गति हो! ऐसी गति, जो निश्चत सीमा में रहने के कारण जड़ से भिन्न कुछ न रह गई हो!!

कर्म-मेखला

वह सृष्टि का प्रलय-मुहूर्त था। आप देवता सृजन की पीड़ा से भरकर स्वयं ही स्थिति और स्वयं ही स्थापक बने हुए थे। देवता के मन में उद्वेलन होता रहता। पर्वताकार लहरें उठती और मिट जातीं। एक के मिटते ही नूतन को जन्म मिलता और पुरातन की परंपरा बढ़ चलती। तब न आकाश में चन्द्र सूर्य थे, न अन्य नक्षत्र; न दिक्पाल थे और न धरा; केवल थे आप देवता, फिर भी कैवल्य की शांति से वंचित। अनेक सृष्टियों और प्रलयों के अनुभव से गुरु विधाता आप देवता के वीचि संग्राम के एकमात्र साक्षी थे। साक्षी क्या विधाता का मन ही जैसे आप रूप धारण कर स्थूल हो रहा था और उन्हीं का अन्तर्द्वन्द्व वीचि संग्राम में व्यक्त था। विधाता के व्याकुल मन का यह व्यापार काल की अनन्त कलाओं का जीवन भोग कर भी परिसमाप्ति की स्थिति न पा रहा था। जब यह अन्तर्द्वन्द्व असह्य हो उठा तो विधाता ने पीड़ा से भरकर हुँकार की। वह प्रथम हुंकार 'प्रणव' बनी और उस 'प्रणव' का प्रथम अर्थ हुआ—'सृष्टि हो।' बस, विधाता ने 'प्रणव' की माला जपते-जपते आप देवता का उग्र मन्थन किया। उस उग्र मन्थन

से जो आन्दोलन हुआ ऐसा वज्र निर्घोष हुआ कि शून्य बधिर हो उठा। वह महा-मन्थन अनन्त काल तक चला। उस मन्थन से आप देवता अग्निमय हो उठे और उनसे महातेज का जन्म हुआ। पर सृष्टि-संकल्प से भरे ब्रह्मा का प्रयत्न स्थागित हुआ। तेज तेज से टकरा कर विदीर्ण होने लगा और देखते-देखते आदित्य-मंडल बना, चन्द्र-मंडल बना और नक्षत्रलोक की भी उसी से सृष्टि हुई। विधाता ने तेज के कोमल अंश से चन्द्र देवता और प्राणों की सृष्टि की। अब नीचे आप देवता थे, ऊपर प्रकाश के देवता। दोनों के अन्तर को प्राणों का आकुल स्पन्दन भर रहा था।

प्राण देवता आप और तेज से भिन्न सत्ता प्राप्त करके अपनी परंपरा के निर्माण संकल्प से भर उठे। उन्होंने विधाता की ओर देखा। उस दृष्टि से जिस नीरव मंत्र की रचना हुई बाद में उसका अक्षर रूप 'एकोहं बहुस्याम' बन कर प्रसिद्ध हुआ विधाता ने 'एवमस्तु' कहा और फिर शेष महाभूतों की भी सृष्टि हुई। उनके संभोग से प्राण देवता ने आकार पाया। एक प्राण विभिन्न देहों में प्रत्यक्ष हुआ। पर्वत, नद, सागर, पशु-पक्षी, जलचर, थलचर, नभचर, सब। प्राण देवता ने विराट् रूप धारण कर लिया था। वृद्ध विधाता ने ब्रह्म छिद्र से इस आदि सृष्टि की सुषमा देखी और मुग्ध ऐसे हुए कि आत्मजा को ही परिणीता बना लिया। सृष्टि विकसित हो चली।

विधाता की मन की यह सृष्टि मन के समस्त भाव-अभाव लेकर जन्मी थी। सृष्टि का विकास भी मनोमय हो रहा था। फलतः समस्त व्यापार मन के संकल्प से ही संपन्न हो जाया करते थे। कर्म की कहीं अपेक्षा न थी। मानसी पूर्णता ने स्थूल से निरपेक्ष रह कर देह उद्यम को अभिशप्त करके छोड़ दिया था। एक युग के बाद विधाता ने सृष्टि-सुंदरी के दीर्घ परिरंभन से मुक्ति पाकर उसका विन्यास पुनः देखा तो

अपने निर्माण का यह दोष भी अवगत हुआ। पर उस दोष का परिहार विधाता को न सूझा।

विधाता के निमेष निपात के साथ-साथ कालचक्र चलता रहा और सृष्टि नूतन प्रसव की पीड़ा से भर उठी। उस मुहूर्त में सृष्टि ने विधाता को उसके पौरुष के पुण्यफल के रूप में एक दिव्य सन्तान भेंट की।

विधाता ने पूछा—'सृष्टि! यह क्या?'

सृष्टि का उत्तर था—'मेरे नारीत्व की सार्थकता!'

विधाता ने पुनः कहा—'पर इसका तो मैंने संकल्प भी न किया था। इस संकल्पहीन का प्रादुर्भाव कैसा?'

सृष्टि बोली—'देव! यह आप के संकल्प से भी श्रेष्ठ आपका कर्म है।'

विधाता चकित भाव से बोले—'मेरा कर्म?'

सृष्टि मौन रही। विधाता ने नेत्र बन्द कर लिये और उनकी अन्तः-दृष्टि सृष्टि के विराट रूपों में रम गई।

सृष्टि ने विधाता की समाधि भंग करते हुए कहा—'देव! फिर मनोमय हो गए? मेरे रूपों को इतनी सूक्ष्मता देकर मेरा आकार ही मुझ से न छीन लो। देव! अपनी इस सन्तान को अपनाओ। यह मेरे रूप और आपके संकल्पों को सार्थकता देगी!'

सृष्टि के इस निवेदन पर विधाता ने मुद्रित नेत्र खोले। उन्हें ध्यान आया कि कैसे उनकी यह विराट सृष्टि कर्म के अभाव में स्थूल से निरपेक्ष होकर अनादृत हो रही थी। उन्होंने उत्साह से भरकर पूछा—'यह कर्म है, सृष्टि?'

सृष्टि ने अनुमोदन किया—'हाँ, देव!'

विधाता ने पुनः पूछा—'यह हमारे संकल्पों को आकार देगा? बोलो, यह तुम्हारे रूप की सत्ता बनेगा? बताओ, यह जगत का आधार हो सकेगा?'

सृष्टि ने विनम्र शब्दों में कहा—'यदि देव का आशीर्वाद होगा तो अवश्य ही। देव अपनी इस सन्तान को ग्रहण करें और आशीर्वाद दें!'

विधाता ने आगे बढ़कर कर्म को अपने उत्संग में लिया और आशीर्वाद-वाणी में बोले—'तो जाओ, वत्स! तुम धरा पर जाओ। धरा का अपने उद्यम से शृंगार करना और हमारे इस सृष्टि संकल्प को सार्थकता देना!'

विधाता के आशीर्वाद से पुष्ट होकर कर्म-शिशु उमग कर अपनी यात्रा पर अग्रसर हुआ, तभी सृष्टि ने उसे माता की वाणी में पुकारा—'वत्स!'

कर्म—'हाँ, माँ!'

सृष्टि—'एक बात है, वत्स!'

कर्म—'आज्ञा, माँ!'

सृष्टि—'तुम हमारे ऐसे शिशु हो, जिसने जन्म से ही यौवन प्राप्त कर लिया है। तुम्हारा रूप देव-दुर्लभ है। समस्त वासनाएँ, कामनाएँ तुम्हारे आलिंगन के अभाव में अनुतप्त रहा करेंगी। पर.....।'

कर्म—'पर क्या माँ?'

सृष्टि—'तुम उनकी ओर आकृष्ट न होगे। तुम ऐसे प्रत्येक भोग से विमुख रहोगे जो साकार सृजन की क्षमता न रखता हो। धरा की सारी वृत्तियाँ तुम्हारी ओर आकृष्ट होंगी। तुम उनके आकर्षण को सन्तुलन देना और केवल मेधा को अपनी सहचरी बनाना।'

कर्म—'वह मेधा कौन है, माँ?'

सृष्टि—'उसे तुम अपने प्रयत्न से जानना। आओ, मेरा आशीर्वाद है।'

आशीर्वाद का संबल लेकर कर्म ने धरती के आँचल में अवतरण किया। धरती पर आते ही उसे क्षणिक अवसाद ने आक्रान्त कर लिया। वह सोचने लगा—'कैसा है यह लोक? प्राणों के रहते भी प्राणहीन!

चेतन होकर भी जड़ ! समस्त अभाव मन के योग से ही सम्पन्न हो जाते हैं। मैं कैसे यहाँ रह सकूँगा ? किस मार्ग से आगे बढ़ूँ ? आः, माँ ! क्या कहा था तुमने ? मेधा ! तो मेधा का पता लगाऊँ ?'

मेधा की खोज में कर्म बढ़ चला। बढ़ते-बढ़ते एक अतीव रमणीक प्रदेश में पहुँचा। यात्रा-जन्य अवसाद से वह पिपासित हो उठा था। पिपासा की निवृत्ति के लिए उसे जल की आवश्यकता हुई। पर जल के स्थान पर वह एक रमणी के पास जा पहुँचा। उस रमणी का रूप निद्रा के पूर्व अलसता-सा था। कर्म को देखकर वह अत्यन्त उल्लसित हुई। मधुर शब्दों में स्वागत करती हुई बोली—'आओ, मनोरम अतिथि ! आओ। तुम्हारा स्वागत है, सुभग ! ऐसा तेजोमय रूप तो मैंने आज ही देखा। आओ, हमारे चिर अभिलिषित ! आओ।'

कर्म का मन उसके वचनों की रज्जु से बँधकर उस रमणी की ओर हठात् खिंच चला था; पर तभी उसे सृष्टि के प्रस्थान काल के वचन स्मरण हो आए। संयमित होकर बोला—'देवि ! मैं तृषार्त्त हूँ। मुझे जल दो !'

रमणी ने आश्चर्य से कहा—'जल ! तृषा और जल का संकल्प कैसा ? तृषा है तो मन में उससे निवृत्ति का संकल्प भी करो।'

कर्म बोला—'कैसे हैं इस धरती के प्राणी ! संकल्प में ही तुम सिद्धि पा लेते हो ? एक बात पूछूँ। क्षुधा लगने पर तुम क्या करती हो ?'

रमणी—'वही, जो तृषा लगने पर।'

कर्म—'पर तब तो तुम न तृषा का सुख जानती होगी, न क्षुधा का। व्यर्थ ही है तुम्हारा जीवन; यदि यहाँ हर आवश्यकता मन में ही पूर्ण कर ली जाती है !'

रमणी—'तुम्हारी वाणी विलक्षण है, सुन्दर ! तुम कौन हो ? परिचय दो। मुझे लग रहा मैं जैसे मुझे तुम्हारी ही प्रतीक्षा थी ! तुम आ गए ! आओ, प्रियदर्शन ! आओ। मेरी भी तृषा जाग उठी है ! मैं

भी क्षुधा अनुभव करने लगी। आज तुम्हीं इन्हें शान्त करो! मेरा मन तुम्हारा हो गया! अब मैं तुम्हारे बिना अपनी प्यास न बुझा सकूँगी!'

कर्म—'मुझे कर्म कहते हैं, देवी! मैं विधाता और सृष्टि का अपत्य हूँ। मुझे जल का कोई स्रोत बता सको, तो बताओ। मुझे आगे जाना है।'

रमणी—'आगे! मेरे पास आकर भी आगे! मैं इस धरा की वासना हूँ, प्रिय! मेरे पास आकर भी क्या तुम्हें अन्यत्र जाना हो सकता है! ओ; मेरे सरलप्रिय! कैसे तुम? भला कैसी यात्रा पर निकले हो? वासना को पाकर तो समस्त यात्राएँ समाप्त हो जाती हैं!'

कर्म—'क्षमा हो, देवी! मुझे मेधा का पता लगाना है।'

वासना—'मेधा! कितने सरल हो प्रिय तुम! मेधा के पास जाओगे? उस मेधा के जो दक्षता में भी धरती का भार हो रही है! धरा के सभी जन वासनामय है। वहाँ जाकर क्या करोगे?'

कर्म—'मुझे मेधा के योग से धरा पर कर्म का प्रसार करना है?'

वासना—'तो तुम स्वयं की प्रतिष्ठा करने आए हो? तुम धरा के देवता बनना चाहते हो? आओ, देवता! मेरे पास आओ! तुम्हारी मूर्ति का आसन मेरा मन ही बनने की क्षमता रखता है! मैं करूँगी तुम्हारी प्रीति की पूर्ति! मेधा के पीछे न भटको! तुम्हारा मंत्र जन मन को मैं दूँगी! बस, प्रिय! अब तुम मेरी अवज्ञा करके न जा सकोगे!'

अपने मधुर बचनों से वासना कर्म के मन में बैठ गई। उसने आगे बढ़कर भुजाओं की माला कर्म के कंठ को अर्पित की और अपने वक्ष का भार उसके ऊपर छोड़ कर्म का ऐसा बंधन बन गई जिससे वह वहाँ बँधकर ही रह गया।

कर्म और वासना साथ-साथ रहने लगे। वासना ने कर्म के मन में बैठकर उसकी शक्तियों को जाना। यह तो विलक्षण व्यक्ति है। बिल्कुल दूसरा विधाता! नवीन सृष्टि की क्षमता से युक्त! सब कुछ का निर्माण-

करने में समर्थ ! वासना की वासना बढ़ चली। उसने सोचा—'क्यों न इसके चमत्कारी सहयोग से अपनी न्यारी भौतिक सृष्टि की रचना करूँ !' एक दिन वह कर्म से बोली—'मेरे कर्म ! तुमने यहाँ आकर मेरा अपकार किया !'

कर्म चकित भाव से बोला—'तुम्हारा अपकार, प्रिय !'

वासना—'ओः, कैसे अनजान बनते हो ! जब तक तुम न थे, मैं अपनी प्रीति स्वयं में खोज लेती थी, अपनी तृप्ति स्वयं में पा लेती थी, पर अब ! आः, अब मुझे अपने से बाहर दौड़ना पड़ता है। मैं तुम्हारी आश्रित हो गई ! मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती !'

कर्म—'इसमें तो मेरी प्रसन्नता है ?'

वासना—'पर मेरी पीड़ा नहीं जानते तुम, स्वार्थी !'

कर्म—'तुम्हारी पीड़ा !'

वासना—'हाँ !'

कर्म—'मैं नहीं समझा, प्रिये ! बताओ, क्या उसकी निवृत्ति मेरे द्वारा संभव है ?'

वासना—'तुम्हारे द्वारा क्या संभव नहीं, देवता ! तुम दूसरे विधाता हो !'

कर्म—'तो बोलो ! तुम्हारी प्रीति के लिए क्या करूँ, देवि ?'

वासना—'अब यह लोक मेरे लिए छोटा पड़ गया है। मेरी वासना की सीमाएँ अब धरा से नक्षत्रों को चूमने लगी हैं। अब मैं अपने विस्तार में खो जाना चाहती हूँ। मुझे अंतहीन प्रसार दो, प्रिय ! अपनी शक्ति से ऐसे लोक का निर्माण करो, जहाँ तुम्हारी वासना मुक्त क्रीड़ा कर सके !'

कर्म ने मुस्कान में स्वीकृति दे दी और वह धरती पर वासना का स्वप्न सिद्ध करने के लिए यत्न करने लगा। उसने अपने उद्योग से सागरों को बाँधा ! जल से विद्युत निकाली ! विद्युत से उसने नक्षत्रों

की यात्राओं के मार्ग खोले ! ऐसे-ऐसे यन्त्रों का निर्माण किया, जो क्षण भर में समस्त सृष्टि को स्वाहा कर दें ! उसका सृजन निर्माण में भी विनाश-शील हो उठा ! वासना विनास के उस विराट निर्माण पर मुग्ध थी ! कर्म उसकी प्रीति के लिए पूछता—'बस न प्रिये !'

वह अतृप्ति की वाणी में कहती—'अभी से प्रिय !'

और बस कर्म-चक्र काल-चक्र से भी द्रुत गति से घुमता। युग बीतने लगे। कर्म के उद्योग और वासना की प्रेरणा से सृष्टि कुछ की कुछ हो चली। विनाश ताण्डव करने लगा। वासना जन-जन के उस सर्वनाशी संघर्ष को देखती और मुग्ध होकर कर्म को आलिंगन करती हुई कहती—'तुम्हारे इस शस्त्र की शक्ति अपरिमेय है, प्रिय ! तुम हिमालय को इसके प्रहार से रजकण बना सकते हो ! सागर का शोषण करके मरु को जन्म दे सकते हो ! मेरे प्रिय ! मेरी प्रीति के लिए आज यह परिवर्तन भी कर दिखाओ !'

कर्म ने चकित होकर कहा—'यह क्या कहती हो, प्रिये !'

वासना—'अब तुम्हारी यह नई सृष्टि पुरानी हो चली है। मुझे और नवीनता दो। अब मुझे इस पुरातनता में सुख नहीं मिलता !'

कर्म—'पर नवीनता तो पुरातनता का विकास है, प्रिये !'

वासना—'नहीं, मुझे ऐसा विकास नहीं चाहिए, जिसमें पुरातन के प्राण प्रबल हों ! प्रिय ! मेरे प्रिय ! तुमने मेरी प्रीति के लिए बड़े-बड़े युद्ध किये, एक जन-समूह के द्वारा दूसरे जन-समूह का पराभव, पीड़न, शोषण कराया। आज सारा विश्व विनाश के निर्माण में व्यस्त है। मैं इसकी संपूर्ण व्यस्तता देखना चाहती हूँ ! प्रिय ! तुमने आज तक जो कुछ रचा है, उसे संहार को समर्पित कर दो !'

कर्म—'संहार को समर्पित कर दूँ !'

वासना—'हाँ ! कल वह मेधा आई थी। कहती थी—यह तुम क्या करा रही हो, वासना ! तुमने कर्म का संतुलन छीन लिया ! वह तो धरा

पर स्वर्ग निर्माण के लिए आया था ! तुमने तो नरक की ज्वाला रच डाली !'

कर्म उत्सुकतापूर्वक बोल उठा—'मेधा आई थी ? कहाँ है वह ?'

वासना—'अपने उपदेश के साथ लौट भी गई। मेरे प्रिय ! देखो, तो उसकी धृष्टता कि तुम्हारे निर्माण का उपहास करे ! इसी से कहती हूँ कि आज तुम प्रलय की क्रीड़ा करो। मेधा तुम्हारी शक्ति को जान ले और उपदेश देना भूल जाय। बोलो, प्रिय ! बोलो ! करोगे मेरी प्रीति के लिये इतना और ?'

कर्म ने वासना की बात कुछ सुनी, कुछ न सुनी। वह युगों की छायाको पार करके उस क्षण में पहुँच गया था, जब उसकी जननी सृष्टि ने उसे धरा पर भेजते हुए मेधायुक्त कर्म का महत्व समझाया था। बस, वासना के रोकने पर भी वह विषाद से भरा विजन में आकर बैठ गया।

उसका मन पूर्वकृत्य पर उत्ताप से भरा-भरा था। वह सोच रहा था—'ओः, मैं आज तक संहार की ही सृष्टि करता रहा.... .....मेधा ! तुम कहाँ हो ? माँ ! पिता !! देव !!! यह कैसी आग आज मेरे मन मे जल उठी है ? मेरा उद्योग अपने आप में विफल हो रहा है !'

कर्म के पाँवों के नीचे ही एक सुन्दर, शान्त सरोवर कमलों को अपने अंक में लिए आकाश का मुख देख रहा था। कर्म नेउसी चिन्ता-मुद्रा में अपनी विवर्ण आकृति का प्रतिबिम्ब उस सरोवर में देखा—वह वृद्ध हो चला था। जीर्ण और कलान्त ! तभी वासना ने आकर माया भरे शब्दों में कहा—'किस उत्ताप से भरे हो, प्रिय ! अपनी वासना के नेत्रों में अपने भविष्य का प्रतिबिम्ब देखो ! मैं तुम्हें अक्षय यौवन और रसों से पराङ्मुख न होने वाली तृप्ति दूँगी !'

कर्म ने उद्विग्न हो कर कहा—'तुम ! नहीं; इस क्षण तुम नहीं ! मैं पथ-भ्रष्ट हो चुका हूँ। अब तुम नहीं ! मुझे अपना पथ आप खोजने दो। जाओ; जाओ भी वासना ! मुझसे दूर ही चली जाओ !'

तभी वासना की दृष्टि दूसरे तट पर बैठी मेधा पर पड़ी। ईर्ष्या से जलकर बोली—'ओः, तो अब तुम मेधा के प्रपन्च में फँस कर मुझसे मुक्ति चाहते हो ? पर यह न हो सकेगा ! भूलो मत कर्म ! कि तुम्हारी दी हुई शक्ति मेरे पास इतनी प्रबल मात्रा में है कि मैं मेधा सहित तुम्हारा और तुम्हारे नूतन स्वप्नों का संहार कर सकती हूँ। बोलो, कर्म ! मेरा अनुगमन करोगे कि नहीं ?'

मेधा बोली—'बहन, वासना ! कर्म को तुमने कितना जीर्ण कर डाला है ? बहन ! मैं उसे तुमसे छीनने नहीं जीवन देने आई हूँ। तुम अपने कर्म की रक्षा करो ! उसके निर्माण की रक्षा करो !! कर्म के संहार का संकल्प कैसा, बहन ?'

वासना असह्य भाव से बोली—'फिर उपदेश ! तो ठहरो, मेधा ! पहले तुम ही वासना की शक्ति देखो ! देखो, कर्म ! तुम भी प्रलय को देखो ! आज वासना संहार का ही शृंगार करेगी !'

उसके बाद की कथा अधूरी है। अन्त क्या हुआ, पता नहीं। फिर भी इतना स्पष्ट है कि शान्ति-सरोवर के एक तट पर विषण्ण कर्म बैठा है, दूसरे तट पर दीन मेधा; और उग्र वासना उन दोनों के संहार के लिये प्रलय मचा रही है !

फैसला कल होगा

इजलास लगा था। जज ने गंभीर आवाज में पूछा—'तुम्हारा कोई वकील है ?'

शम्भू ने धीरे से कहा—'वकील !' और वह अदालत की छत को देखने लगा।

वादी के वकील ने उपहास के स्वर में पूछा—'उधर क्या है ?'

शम्भू ने गम्भीर स्वर में कहा—'ईश्वर !'

वकील—'तुम ईश्वर को मानते हो ?'

शम्भू—'मानने लगा हूँ।'

वकील—'पर जब तुमने गबन किया तब वह ईश्वर कहाँ था ?'

शम्भू—'मेरे मन को छोड़कर सब जगह था।'

वकील—'तुम्हारे मन में क्यों न था ?'

शम्भू—'वहाँ पाप था !'

वकील—'ईश्वर पाप से डरता है ?'

शम्भू—'नहीं, ईश्वर पाप से दूर रहता है।'

वकील—'तो तुमने पाप किया ?'

शम्भू—'हाँ !'

वकील—'तुम्हारा ईश्वर तुम्हारे पाप के विरुद्ध गवाही देगा ?'

शम्भू—'ईश्वर सब का है। जो सच जानना चाहेगा वह उससे अवश्य जान सकेगा।'

वकील—'मैं सच जानना चाहता हूँ ?'

शम्भू—'मैं मुजरिम हूँ !'

वकील ने जज की ओर मुखातिब होकर—'मी लार्ड ! मुजरिम इकबाल करता है।'

जज को इस अद्भुत इकबाल पर अचरज हुआ। उसने गम्भीर स्वर में पूछा—'तो खजान्ची शम्भूनाथ ! तुम कबूल करते हो कि तुमने सोसाइटी का पाँच हजार रुपया गबन किया ?'

शम्भू—'हाँ !'

जज—'तो.....'

पर तभी एक स्त्री बीच ही में बोल उठी—'मेरी एक बिनती है, जज साहब !..... जो कुछ इकबाल किया गया, वह सब झूठ है !'

जज—'झूठ ! तुम कौन हो ?'

तभी एक वकील ने उठ कर कहा—'मी लार्ड ! यह शम्भूनाथ की बीवी है ! शम्भू का दिमाग कुछ खराब हो गया जान पड़ता है। इसकी बीबी ने मुझे वकील बनाया है। मुजरिम की सफाई का मुझे मौका दिया जाए।'

जज—'इजाजत है !'

शम्भू—'कैसी इजाजत ? आप न्याय-मूर्ति हैं। झूठ की कैसी इजाजत ? मेरा दिमाग दुरुस्त है। खराब था, जब मैंने गबन किया ! खराब था, जब, मैं चोरी करने चले था !!'

'चोरी !' वादी के वकील ने तुरन्त नोट किया। बोला—'योर लार्डशिप ! मामला गंभीर है। गबन से भी ज्यादा है ! मुजरिम चोरी का इकबाल करता है !'

सफाई के वकील ने विरोध किया—'यह अन्याय होगा, मी लार्ड ! अगर एक पागल की हर बात को उसके खिलाफ सच मान लिया गया !'

वादी के वकील ने जवाब दिया—'पर हर सचाई को पागलपन भी तो नहीं मान लिया जा सकता ?'

शम्भू—'तुम ठीक कहते हो, वकील ! वकील ऐसा सच कम ही कहते हैं। इस अदालत में वे ऊपर की अदालत को भी भूल जाते हैं। पर कल उन सब की पेशी वहाँ होगी और वे झूठ का व्यवसाय करने वाले मुजरिम करार दिये जायेंगे !'

शम्भू के इस बयान ने सब को हैरत में डाल दिया था। वह बोला—'मैं पागल नहीं। पागल वे हैं जो झूठ साबित करना चाहते हैं। मैं आप के उस कानून को नहीं जानता जो बुद्धि के दाँव-पेचों में ये बदला करता है। मैं अपने मन के सत्य को जानता हूँ ! मेरी बात को वकीलों से अलग रख कर सुना जाए !'

जज—'ऐसा ही हो ! तुम्हें कहने की इजाजत है।'

शम्भू—'मैंने गबन किया ! मैंने चोरी भी करनी चाही !.....'

जज—'चोरी की नहीं ?'

शम्भू—'कर नहीं सका !'

जज—'करने का सबब और न करने का सबब ?'

शम्भू—'पहला सबब मेरी झूठी जरूरत थी ! दूसरा सबब मेरी सच की जानकारी थी !!'

जज—'खुलासा कहो ?'

शम्भू—'गबन का रुपया एक हफ़्ते में अदा कर देने की मुझे मोहलत दी गई थी। मोहलत का दिन आखिरी दिन था। रुपया मेरे पास था। जुए में सब खो चुका था। सोसायटी का रुपया भी मैंने जुए में खो दिया था। जुआ ही मेरे लिए रुपए आने और जाने का रास्ता था, पर रोज-रोज की हार ने मेरा वह रास्ता भी बन्द कर दिया था। हार कर मुझे नया रास्ता खोजना पड़ा।'

जज—'नया रास्ता!'

शम्भू—'हाँ! और वह था चोरी का!'

जज—'चोरी!'

शम्भू—'हाँ! मैं कल रात चोरी के इरादे से घर से निकला था। मुझे गबन और इस नापाक इरादे दोनों के लिए सजा दी जाए!'

जज—'पर तुमने चोरी तो नहीं की!'

शम्भू—'कर सकता था! इरादा था तो कर भी सकता था। मुझे सजा मिलनी ही चाहिये!'

जज—'सजा का फैसला करना अदालत के हाथ में है, तुम अदालत से न सजा माँग सकते हो, न छूट। तुम्हें सिर्फ इन्साफ माँगने का हक है।'

शम्भू—'मेरी सजा ही मेरा इन्साफ है।'

जज—'यह भी अदालत के सोचने की बात है। तुमने चोरी का इरादा कैसे बदला, यह बयान करो!'

शम्भू—'जरूर बयान करूँगा। यह मेरे एक पाक गुनाह की कहानी है। इस गुनाह की ओर बढ़ कर ही मेरी आँखें खुलीं।'

क्षण भर को शम्भू रुक गया। उसकी आँखें फिर छत से जा लगीं थीं। फिर फर्श पर आँखें जमा कर उसने कहना शुरू किया—'कल की रात कितनी काली थी; पाप सी काली! कितनी सुनसान थी; मौत सी सुनसान! अपनी छाया तक से छिपता हुआ मैं अपने बीबी-बच्चों

को छोड़ कर घर से निकला। मैं नहीं जानता की कैसे-कैसे रास्तों से होकर मैं उस मकान तक पहुँचा। दरवाजा छोड़ कर मैं उसके पिछले हिस्से में जा पहुँचा था। अन्दर कैसे पहुँचूँ यह सोच ही रहा था कि बन्द खिड़की की रन्ध्रों से होकर बाहर आती हुई आवाज मेरे कानों में पड़ी। मैं चौकन्ना होकर सुनने लगा.....

स्त्री—'अब तुम सो भी जाओ!'

पुरुष—'नींद नहीं आती!'

स्त्री—'जागने से भी तो कुछ न होगा!'

पुरुष—'जानता हूँ, फिर भी सोचता हूँ कि अगर कल तक रुपये का इन्तजाम न हुआ तो कुड़की आ जायेगी। तब.....'

स्त्री—'तब की तब देखी जायेगी!'

पुरुष—'हम राह के भिखारी हो जायेंगे!'

स्त्री—'अगर तकदीर में यही लिखा है तो टालेगा कौन! चारा भी क्या है?'

पुरुष—'चारा! है चारा!'

स्त्री—'क्या?'

पुरुष—'चोरी!'

इसके बाद मैं वहाँ न ठहरा। आज की रात मुझे लगा, हर भला आदमी चोर बनने का इरादा कर रहा है। मन में आया कि लौट चलूँ और तकदीर को अपनी नाव थमा दूँ! पर.....'

जज ने पूछा—'पर!'

शम्भू—'पर मैं गबन के लिये जेल काटने से डरता था। मुझे चोरी करना मंजूर था और मैं उसी मुहल्ले के दूसरे मकान की छत पर पतनाले के सहारे ऊपर चढ़ गया। छत से जीने के रास्ते नीचे उतर कर आँगन में आया। आँगन में पहुँचते ही मैंने किसी के खाँसने-कराहने की आवाज सुनी। जाने कैसी दमतोड़ खाँसी थी!

खाँसी डूब गयी । शायद कोई मरीज सोते-सोते खाँस रहा है, मैंने तब यही सोचा । तभी बगल के कमरे से मैंने सुना.....

पुरुष—'आज गिरधर की खाँसी फिर बढ़ गई ।'

स्त्री—'क्या होगा मेरे लाल का ?'

कहते-कहते स्त्री रो उठी थी । पुरुष ने उग्र स्वर में कहा था—'टी० बी० है । टी० बी० का इलाज सिर्फ पैसा है । पैसा मौत के हर वक्त सिर पर रहने पर भी उसे गले तक आने से रोक सकता है ! पैसा मौत के साथ-साथ जिला सकता है !!'

स्त्री—'कुछ भी करो, मेरे लाल को बचाओ !'

पुरुष—'वह मेरा भी है । मैं भी उसे बचाना चाहता हूँ, पर बचाने वाला पैसा कहाँ ? जो था साल भर में सब दवा-दारू में खर्च हो गया । कर्ज भी लिया ;पर अब कर्ज भी नहीं मिलता । क्या करूँ ?'

स्त्री—'मैं वह सब सुनना नहीं चाहती ।'

पुरुष—'पर बिना पैसे के वह मुमकिन कैसे होगा ? गर्मी अब करीब ही है । तब उसे पहाड़ पर न भेजा जा सका तो....'

स्त्री—'तो पहाड़ पर भेजो ।'

पुरुष—'पर पहाड़ के लिये पैसा भी तो हो ।'

स्त्री—'पैसा पैदा करो ।'

पुरुष—'कहाँ से ? कैसे ? बोली, चोरी करूँ ? डाका डालूँ ? लूट मचाऊँ ?'

पुरुष का स्वर इतना तेज हो चला था कि मैं वहाँ ठहर न सका । मेरा सिर घूम-सा चला था । क्या दुनियाँ में अब सिर्फ चोर ही बच रह गये हैं । चोरी ! आः हर जगह, चारों तरफ चोरी ही चोरी !'

कहते-कहते शम्भू का गला फँस गया । उसने एक क्षण रुक कर इजलास में चारों तरफ निगाह डाली और बोला—'तब से मुझे हर इन्सान चोर लग रहा है । मैं चोरों के घर चोरी करने चला था !

चोरों के घर चोरी ! ये सभी लोग भी चोर हैं ! ये कानून के पुतले भी चोर हैं !....ये.....ये.....'

जज ने तभी कठोर स्वर में शासन किया—'शम्भूनाथ ! तुम भूलते हो कि तुम अदालत में हो। इस तरह की बातें करने का तुम्हें कोई हक नहीं। अपने मुतल्लिक तुम कुछ कहना चाहते हो तो कह सकते हो, नहीं तो बस करो !'

शम्भू ने निगाह नीची कर ली। रुक कर बोला—'माफी चाहता हूँ। मेरा इरादा.....नहीं..सिर्फ मैं चोर हूँ ! मुझे..आः, मैं..नहीं मुझे अपनी कहानी पूरी करने का मौका दिया जाये !'

जज—'इजाजत है।'

शम्भू ने कहना शुरू किया—'उस मकान में मैं जैसे घुसा था, वैसे ही निकल आया। अब किसी मकान में घुसने की ताकत मुझ में न रह गई थी। मैं मुहल्ले छोड़ कर वहीं सड़क पर निकल आया था, जिसकी पटरियों पर मजदूर भिखारी, लावारिश, भले-बुरे सैकड़ों इन्सान सो रहे थे। हाथ-पैरों से अच्छे-बिच्छे भी, अन्धे-अपाहिज भी। गरीबी की वे जीती-जागती यादगार थे, जो नींद के हवाले अपनी तमाम मुसीबतें कर इस समय बेखबर थे। जाड़ा, गर्मी, बरसात में, सभी हालतों में तो ये इसी पर सोकर गुजर करते हैं। मेहनत करते हैं, या भीख माँगते हैं; किसी न किसी तरह जीते हैं, पर चोरी नहीं करते ! वे चोरी नहीं करते !!'

शम्भू कुछ रुककर, गले को साफ करके फिर बोला—'मैंने सोचा कि ये चोरी क्यों नहीं करते ! ये डाका क्यों नहीं डालते !! जिन्दगी के हर सुख से ये महरूम हैं। उसे पाने के लिये सब कुछ करने का हक इन्हें हैं ! फिर इन्होंने क्यों आँखें मींच रखीं हैं ? ये चोर क्यों नहीं बनते ? ये डाका क्यों नहीं डालते ??

मेरे मन में रह-रह कर ये ही सवाल उठ रहे थे कि उनका जवाब भी मिल गया। कुछ कदम और बढ़ा था कि मैंने दो भिखारियों को लेटे-लेटे बातें करते सुना। उनमें एक बूढ़ा था और दूसरा जवान।

जवान का सवाल था—'क्यों काका! भीख माँगना बुरा है कि चोरी करना?'

बूढ़े ने तीखी आवाज में कहा—'यह कैसी बेहूदा बात सूझी रे तुझे?'

जवान—'नहीं काका! सोचता हूँ कि चोरी क्यों न करूँ?'

बूढ़ा—'खबरदार, जो फिर कभी ऐसा कहा!'

जवान—'क्यों क्या बुराई है?'

बूढ़ा—'चोरी पाप है!'

जवान—भीख माँगना पाप नहीं?'

बूढ़ा—'नहीं। हम माँग कर लेते हैं। लोग दया करके देते हैं। हम किसी को सताकर या किसी का मन दुखाकर कुछ नहीं लेते।'

जवान—'पर कोई हमें खुश होकर नहीं देता। सब पीछा छुड़ाने के लिए ही दे देते हैं। नफरत के साथ देते हैं! अपमान करके देते हैं!!'

बूढ़ा—'तू जवान है, इसलिए ऐसा सोचता है। भिखारी सच्चा तू बना नहीं। भिखारी का कभी अपमान नहीं होता। वह तो बड़ा तपस्वी होता है। सहना और सबका भला चाहना जानता है। गाली भी सहता है, दुतकार भी; फिर भी दुआएँ करता है। हम लोगों को रहम करना सिखाते हैं। हम उन्हें बाँट कर खाना सिखाते हैं। दुनियाँ अगर भिखारी से इतना भर सीख ले तो यहाँ स्वर्ग बन जाए। जाने क्यों लोग जरा सी बात नहीं समझते! क्यों नहीं बाँटकर खाते!!'

जवान—'मुझे तो भीख माँगने में शर्म आती है।'

बूढ़ा—'बड़ा इज्जतदार है न! चोरी करने में तो नाक ऊँची होगी? अरे, दुनियाँ को देना आ गया तो न तो चोर ही रहेंगे, न

भिखारी। चोर दूसरे को पराया समझ कर चोरी करता है। भिखारी दूसरे को अपना समझ कर भीख माँगता है।'

जवान—'पर काका! हम भिखारी क्यों हुए? वह सामने की कोठी वाला दाता क्यों बना? और वह जो जेलों में बन्द हैं, चोर क्यों बनें।'

बूढ़ा—'हमने पुण्य किया था, इसलिए हम भिखारी बने। कोठी वाले ने अच्छे काम किये थे, इसलिए वह दाता बना। हम दोनों में से किसी को न समझने वाला चोर बना।'

जवान—'मेरी समझ में तो बात नहीं बैठी, काका!'

बूढ़ा—'जवान की अक्ल मोटी हो गई है। समझेगा, वक्त आने पर तू भी समझेगा। ईश्वर सब सोच समझकर करता है; वक्त आने दे।'

यहाँ आकर शम्भू रुक गया। जज ने पूछा—'बस! कहानी खत्म हुई?'

शम्भू ने पश्चाताप के स्वर में कहा—'खत्म होने वाली है। तभी उस बूढ़े भिखारी की निगाह मुझ पर पड़ी। मुझे देखकर वह उसी जवान भिखारी से बोला—'देख, यह कोई दुखी है। नहीं तो रात में इस तरह मारा-मारा क्यों फिरता। ईश्वर इस पर दया करे। भटका हुआ है। ईश्वर इसे रास्ता दिखाए।'

और सच ही मैं भटका हुआ तो था। ईश्वर को तब मैंने बड़ी करुणा से पुकारा। उसने मेरी पुकार सुनी। मुझे रास्ता दिखाया। बस, अब मुझे आगे कुछ नहीं कहना। मुझे सजा दी जाए। सजा भोगकर मैं चोर से भिखारी बनना पसन्द करूँगा। मुझे सजा दी जाए!'

अदालत में गहरा सन्नाटा छा गया था। जज ने गम्भीरतापूर्वक कुर्सी से उठते हुए कहा—'आज का इजलास बर्खास्त किया जाता है। फैसला कल सुनाया जाएगा।'

सारी दुनिया का फैसला इसी कल पर टिका है।

Municipal Library
NAINITAL
नैनीताल